

सामयिक साहित्य-माला—१८वाँ पुष्प । संपादक—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

आवाज़

Aavaz

(सामाजिक उपन्यास)

उषा

लेखिका

श्रीमती उषा मित्रा

Usha Mitra



प्रकाशक

सामयिक साहित्य-सदन, लाहौर ।

Samyak Sahitya Sadan Lahore

प्रकाशक—
उमा शंकर त्रिवेदी, एम. ए.,
व्यवस्थापक
सामयिक साहित्य-सदन,
चेम्बरलेन रोड, लाहौर।

मूल्य— ३)

मुद्रक—
लाला खुशहाल चन्द 'आनन्द'
वीर मिलाप प्रेस,
गणपत रोड, लाहौर।

प्रकाशक की ओर से

श्रीमती उषा मित्रा हिंदी के पाठकों और साहित्य-पारखियों के लिए सुपरिचित हैं। उनकी कहानियों और उपन्यासों ने उनके व्यक्तित्व की उज्वल किरणों को परम् रमणीय, पावन और तेजस्वी रूप में प्रकट किया है। फिर भी मैं समझता हूँ—वह क्या हैं—सरस्वती के मंदिर में उनकी साधना कितनी गंभीर और तन्मय है—इसका पूरा-पूरा भान हिंदी-साहित्य-संसार को नहीं हो पाया है, और इस मूक साध्वी-तपस्विनी का ध्यान केवल साधना की ओर है, साधना का मूल्य पाने की ओर नहीं।

साधना की तन्मयता उस समय टूट जाती है जिस समय साधक इच्छा करता है कि उसकी सिद्धि—उसकी साधना की सृष्टि—का संसार में आदर हो; लेकिन साहित्य और कला की साधना और भक्त की साधना में कुछ अंतर है। भक्त की साधना केवल उसकी निजी वस्तु है—किन्तु साहित्यिक की साधना निजी होते हुए भी संसार की है। जो साधना संसार के मंगल के लिए

है, उसे संसार के प्रत्येक हृदय तक पहुँचाने की आवश्यकता भी है। स्वयं साधक ही अपना विज्ञापन करे—यह सच्चे साधक की प्रवृत्ति में नहीं, और इसी लिए उषा मित्रा ने अपने विषय में—अपनी साधना, कला और रचना के विषय में—कुछ भी कहना—मेरे आग्रह पर भी—स्वीकार नहीं किया।

उषा मित्रा जी की कई पुस्तकें पहले प्रकाशित हो चुकी हैं, उनका अपना महत्व है, किन्तु इस "आवाज़" ने उनके हृदय की जिस तेजस्विता को अंकित किया है, वह पाठकों को केवल चकित ही नहीं करेगी, बल्कि बल भी देगी। इस उपन्यास में केवल चार मानव-पात्र मुख्य हैं। इन चारों ही मानव-पात्रों को लेकर कथानक का सुंदर और सुसंगठित विस्तार योग्य लेखिका ने किया है। विचारों, भावनाओं और परिस्थितियों का संघर्ष आज के साहित्य का सब से अधिक महत्वपूर्ण अंग है। 'आवाज़' के प्रत्येक पात्र के जीवन में प्रत्येक पल संघर्ष चल रहा है और इस संघर्ष का चित्रण एक चतुर चितेरे की भाँति उषा मित्रा जी ने किया है।

'आवाज़' के प्रत्येक पन्ने को खोल खोल कर उसकी ख़ूबियों को प्रदर्शित कर पाठकों के मस्तिष्क की स्वाधीन-चिंता को म प्रभावित नहीं करना चाहता—किन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि देश की, या मानवमात्र की 'आवाज़' को स्वाधीन रखने की धुन में लगे रहने वाले पगलों के जीवन की जो झाँकी इस पुस्तक में दिखाई गई है, वह हृदय पर स्पष्ट प्रभाव डालती

है और मस्तिष्क को सोचने को बाध्य करती है।

'सेक्स-साइकॉलोजी' के पीछे पड़े रहने वाले हमारे नवीन साहित्यिकों के लिए 'आवाज़' चेतावनी भी देगी और नया मार्ग भी प्रदर्शित करेगी। सेक्स से हमारे जीवन प्रभावित हैं—लेकिन मानव के चिंतन और कर्म का इसके अतिरिक्त और भी व्यापक क्षेत्र है—वह है मृत्यु पर विजय पाने का। शरीर का नाश मृत्यु नहीं है—इच्छा-शक्ति, स्वाधीन-चिंता और अपनी आवाज़ का गला घुटने देना ही मानव की वास्तविक मृत्यु है। इस मृत्यु से देश की और संसार के प्रत्येक मानव की कैसे रक्षा हो सकती है—इसका उपाय खोजना आज के मानव की साधना का लक्ष होना चाहिए। 'आवाज़' ने नवयुग का संदेश दिया है।

हिंदी भाषा के पारखी और सर्व साधारण पाठक दोनों ही 'आवाज़' का आदर करेंगे इसका मुझे विश्वास है।

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०	८	पर्वत-सी	पर्वत-सा
,,	६	वट	तट
४३	२	रूचि	अरूचि
४४	१	बंद	बिंदु
४५	६	उत्कीर्ण	उत्कर्ण
४८	१२	वृद्धस्थ वीर	वृद्ध स्थवीर
४६	६	बार	पार
६४	२	न सुनगा भी कौ	सुनेगा भी कौन
७१	१६	आविष्ट	अतिष्ट
७२	१२	इसके	इसके लिए
७८	७	वात्सल्य	ताच्छल्य
,,	१४	व्यर्थ	अर्थ
८७	४	आकर रो	साकार हो
६१	१३	उदासी-लू	उदासी को
,,	१३	देस	दैत्य
६५	२०	सब	शव
६७	१४	रमेश	सुरेश
१०६	६	एक श्वास	रुद्ध श्वास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०८	५	जब	जल
,,	७	रात्रि	गली
१११	२	अनेक	अपने
,,	१०	गाती	भागी
११२	३	वहाँ ही	वहाँ भी न
११६	१	मीत	मौत
१२४	११	देर	ढेर
१२५	१४	निद्रालीन	निद्राहीन
,,	१८	आतंक	आतंक ने
१२६	१५	पर न	वरन
१३६	६	सोहनी	सोहन
,,	१५	सोचती	सोचता
१४०	२	निर्भय	निर्मम
,,	४	परिचय	साहस
१५३	६	को	की,
१६०	५	कारण	करुण
१६२	१५	में सुषुप्तिसे	में से
१७५	१०	अकपट	अटपट
,,	१५	उसे	उससे
१७७	७	काँपने	कहने
१८८	७	कर	कह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६७	६	देवी जी को	देवी जी का
,,	८	स्नेह क्या,	स्नेहका
२०५	६	असित	सुनील
२०६	६	पुरुष से	पुरुष के
,,	१७	दे सकूँगा	ढो सकूँगा।
२०७	२	पगली	पल्ली
२११	१७	विरीह	निरीह
२३२	११	जान	गान
,,	१२	,,	,,

पृष्ठ ६८ पर दूसरी पंक्ति के बाद यह पंक्ति बढ़ा लें—
"यहाँ पर बहुत बेदाने हैं"—असित ने कहा।"
पृष्ठ १५७ की १५वीं पंक्ति के बाद यह बढ़ा लें—
"पागल; फिर इसके बाद भी क्या यहाँ रह सकोगे।"
पृष्ठ १८० की १८वीं पंक्ति के बाद यह बढ़ा लें—
"क्या कह रहे हो, गुरुदेव ?"

—:-:०:-:—

आवाज़

आवाज़

(१)

समुन्दर की फेनिल, उत्ताल तरंगों में जैसे विश्व का जीवन लहराया करता। अस्तगामी सूर्य की कुमकुमाभ छटा शुभ्र-फेन-गुम्बजों पर लोटती, कल्पनातीत रंग भी जैसे शिल्पी की तूलिका में भर उठता। सप्त ऋषि, सप्त स्वर, एक सप्तक और सात रंग का रामधनुष आकाश-झरोखे में। रंगों में बैठी आकाश-कन्या पहेली का हरिताभ जाल बुना करती।

समुन्दर की प्राय-गोद से लगे दो श्वेत बँगले उद्यान की आवेष्टिनी में, एक ही अहाते में—जैसे समुद्र के अतलस्पर्शी गोपन-इतिहास को तनु में अंकित किए—दो बगुले पर फैला कर बैठे हों—वर्ष के बाद वर्ष, रात के बाद रात जाग कर, उस इतिहास को सँजोर-सँभाल कर।

समुद्र की छोटी-बड़ी तरंगें उस हाते के नीचे पछाड़ें खाया करती, समुद्र का फेन बड़े बड़े गेंदों की तरह किनारे पर बह कर आता और तब उस एक बँगले के ऊँचे दालान पर खड़ी किशोरी उन्हें निहारती, कभी ऊँचे-नीचे टीलों को तय करती उन श्वेत गेंदों के पीछे दौड़ती फिरती। उसके उज्ज्वल श्याम वर्ण मुख के घन-पल्लवों से घिरे रत्नाकर-नेत्रों में विश्व की सारी खुशी घर कर बैठती, नासिका स्फीत होती, गुलाब की

गुलाली रचे पतले ओंठ हिलने लगते; दीर्घ, काली भौंहे ज़रा सिकुड़ जाती; लम्बे, कुञ्चित, मेघ-निविड़ एलायित केशराशि वायु के साथ क्रीडा करती हुई उस मुख पर भँवर पड़ती और लीलायित शरीर तरूलता-सा नवता।

ऊँचे टीलों पर वह दो बँगले, नीचे समुद्र का गम्भीर नाद, कभी समुद्र बँगलों के निकट हट आता—जैसे उन्हें आलिङ्गन करना चाहता, कभी दूर—बहुत दूर हट जाता—हताशा से ऐंठ कर, आहत अभिमान से पीछे दौड़ पड़ता—दूर—दूर। और तब राशि राशि बालू बिछ जाती बँगलों के पाद-मूल में—टीलों के नीचे।

कपास, नीम, चमेली, चम्पा, केला, नारियल आदि ऊँचे ऊँचे वृक्षों से ढँके हुए, नववधु-से अवगुण्ठनावृत दो बँगले। एक टेबिल, चेयर, सोफ़ा आदि से सज्जित सौष्ठव-युक्त। सामने क्रोटन, गुलाब आदि की छोटी फुलवारी, चहुँ ओर ऊँचे वृक्ष। दूसरा विधवा जैसा शृंगार-साज-हीन सीधा-सादा। दालान पर लकड़ी की साधारण दो बेञ्चें। कमरों में रस्सी की चारपाईयाँ, कम्बल, दो-चार टूटी अलगनी। कई कमरों के द्वार पर मोटे मोटे ताले पड़े हुए। सामने गुलाब-जुही नहीं, कपास के वृक्ष फल-भार से नत, कुछ फलों से निकले हुए जुही-गुच्छ से श्वेत कपास।

झींगुर का विरामहीन गान समुद्र-गर्जन में मिला करता। पक्षियों के मेले में कभी क्षुधातुर, झपटता बाज़ भी स्तब्ध रह जाता, गिलहरियों की मस्तानी चाल शान्त हो जाती, द्विप्रहर के

वैधव्यपन में अपने स्वर को मिलाना भूल कर कभी चील मौन हो रहती।

किशोरी समुद्र की जल-लक्ष्मी-सी कभी समुद्र-किनारे दौड़ती फिरती। सज्जित दालान में चेयर पर बैठा एक सूटेड-बूटेड पक्व-केश व्यक्ति निर्विष्ट खुशी से उस खेल को देख-देख कर पुकार उठता—"सोहिनी।"

लड़की उसे देखती, तब लौट कर पितामह के निकट खड़ी होकर कहती—"दादा, अपने शहर से यहाँ अच्छा है, हम पुरी ही में क्यों न रह जावें ?"

सस्नेह सिर पर हाथ फेरता वृद्ध कहता—"पगली, शहर शहर ही है ? दो-चार दिन यहाँ अच्छा लग सकता है। उसके बाद ? तेरी पढ़ाई-लिखाई कैसे चलेगी ?

किशोरी विचार कर कहती—"न चलने दो। लिख-पढ़ कर होगा भी क्या ?"

वृद्ध उसे गोद में खींच लेता, अपने को उस लड़की में समा लेना चाहता। अपना कहने को संसार में अवशिष्ट उस नातिन के मुख की ओर निहारता रहता।

तब तक परम उत्साह से सोहिनी कह उठती—"दादा, यहाँ कितनी गिलहरियाँ हैं, वहाँ कुछ नहीं हैं। बस स्कूल और घर।"

उसके कहने की रीति से वृद्ध मुस्कराता—"तुम्हारी मिली-इली को भी घर चलते वक्त ले चलना। अभी कौन हम घर जा रहे हैं। तुम्हारी छुट्टी के डेढ़ महिने यहीं रहना है।'

वचन समाप्त कर वृद्ध देखता सोहिनी गिलहरियों के पीछे दौड़ रही है।

पुरी की प्रत्येक वस्तु में सोहिनी कौतुक, आमोद, विचित्रता पाती—उस विशाल समुद्र से लेकर बालू के कण तक में। परन्तु सब से अधिक उसका कौतुक, उसकी जिज्ञासा उलझी रहती उस बँगले के अधिवासियों पर। अभी कुछ दिन हुए कि वहाँ के अधिवासीगण न जाने कहाँ अन्तर्ध्यान हो गये थे, केवल एक किशोर—बलिष्ठ शरीर, श्यामवर्ण मुख पर बुद्धि-उज्ज्वल नेत्रों का अधिकारी, मज़दूरों-सा कपड़े पहने, सन्ध्या के ज़रा पूर्व बँगले में पहुँच जाता। फिर भीतर घण्टे भर तक वह क्या करता रहता सो वह नहीं जानती, शायद रोटी बनाता, खाता, स्नान-सन्ध्या करता, घर-द्वार साफ़ करता। घण्टे भर बाद वह मोटी, मैली, ओछी धोती, वैसा ही कुरता वृक्ष पर सूखने को डालता। और तब दूसरे वृक्षों की अवहेलना कर वह तीन कपास वृक्षों की सेवा में जुट पड़ता, उनकी जड़ें खोदता, बालटी में भर भर कर पानी लाकर डालता। सूखे पत्तों को हटाता। कभी कपास के पके फलों को तोड़ कर टोकनी में भर कर ले जाता।

उस ज्योत्स्ना-रात्रि में—जब कि अनिद्रा के कारण सोहिनी की पलकें भारी हो रही थीं और वह खड़ी खिड़की से बाहर की ओर निहार रही थी—सहसा ही उसकी दृष्टि में समा रहा था वह दृश्य। अर्द्ध रात्रि के गाम्भीर्य में निःशब्द गति से कुछ लोग उस

बँगले के द्वार पर आये थे । एक विचित्र तथा मृदुध्वनि की थी उन्होंने और तब बँगले के भीतर से वैसी ही ध्वनि हुई थी, द्वार खुल गया था, वे सब भीतर समा रहे थे। इसके बाद बीच-बीच में कुछ अस्पष्ट ध्वनि निकल रही थी बँगले से।

उस दिन से वह प्रायः ही रात्रि के अन्धकार में खिड़की पर खड़ी देखा करती प्रेतों की तरह कुछ मनुष्यों को चलते-फिरते, कभी मृदु कभी धड़ाके की आवाज़ आया करती उस बँगले से। दिन के प्रकाश के पूर्व ही वह सब न जाने कहाँ चले जाते। भोर बेला में कभी उस किशोर से उसकी भेंट हो जाती—ठीक गेट के सामने या उद्यान के नल पर। वह अपने कपड़ों में साबुन लगाता हुआ कभी मुँह उठा कर देखता। दोनों ही की दृष्टि में अवहेलना साकार हो उठती। बस इतना ही। कभी वह उसे सामने की दालान में चरखा कातते देखती, अथवा सूत के लच्छों के सँभारते हुए।

उस दिन जब कौतुक की वस्तु अनायास सोहिनी के हाथ के पास पहुँच गई, तब प्रसन्न होने के परिवर्त में हो रही वह हतवाक, विमूढ़।

"मेरा नाम असित है, उस बँगले में रहता हूँ।"—भूमिका के बिना ही वह सप्रतिभ भाव से कह चला—"ये गिलहरियाँ पाल रखी हैं क्या दूसरों को लूटने के लिये ?"

सन्ध्या की पीत चोली में स्वप्न की छाया पड़ चुकी थी, लता-गुल्मों के झुरमुटों में मुट्ठी-मुट्ठी भर अँधेरी जम रही थी,

सोहिनी माधवी लता के नीचे इज़ि चेयर पर अधलेटी पाठ याद कर रही थी, उसके पले हुए गिलहरी के जोड़े पुस्तक के पन्ने और उसकी साड़ी को लेकर खेल रहे थे।

और जब विमूढ़ता से उभरने को वह हुई, तब असीम क्रोध और घृणा ने अधिकार कर लिया उस कौतुक-जिज्ञासा पर। उस असभ्य-स्पर्द्धा ने सम्मान नहीं, किन्तु घृणा ही उसकी खींच ली—"याने ?"—फिर दूसरे ही पल वह परिहास से भर उठी—"तुम्हारे पास लूटने योग्य है भी क्या ?"

देख कर सोहिनी विस्मित हुई कि न वह व्यक्ति चिड़ा, न हिला, न डोला, उपरान्त अकड़ कर खड़ा हो गया, गर्वित वह कह उठा—"मेरे पास ? है बहुत कुछ।"

"क्या ?"

एक अकालपक्व की भाँति वह कह चला—"मेरी स्वाधीन इच्छा, विचार धारा, स्वाधीन मस्तिष्क की स्वाधीन चिन्ता।" अवाक रह आई सोहिनी, उसने स्कूल के पाठ्य जीवन में ऐसी बात कभी न सुनी थी। धनी, मानी, सम्भ्रान्त वंश की एक मात्र वंशधरा वह आदर, प्रेम, फैशन आदि से सभ्य समाज में, सभ्य शिक्षित पितामह की स्नेह-छाया में पालित वह, ऐसे वचन से अपरिचित ही थी।

"स्वाधीन इच्छा ?" कह सकी वह इतना ही।

"वही।"

"तो वही लुट गया क्या ?"

"उसे लूटने वाला दुनियाँ में है ही कौन ?"—विजित गर्व से कहा असित ने।

"अभी तुम ही कह रहे थे न कि लुट गया।"

"लुटना भी कई तरह का होता है।"

"तो इन गिलहरियों ने तुम आदमी को किस तरह से लूट लिया ? जानना चाहती हूँ इतना ही।"

उस परिहास की उग्रता से असित आग-सा हो उठा—"हँसी-मज़ाक अपने-आपके साथ कर सकती हो।"

इसके बाद मुट्ठी खोल कर उसने दिखलाया—कपास के अधपके फल थे। असित ने मुट्ठी खोली और उन कटे हुए फलों के प्रति व्यथित दृष्टि से देखता ही रह गया।

हँसी रोक कर पूछा सोहिनी ने—"सो इन्हें देख कर मैं करूँ भी क्या ?"

"अपनी गिलहरियों को रोको, ये रोज़ इसी तरह से फल काट-काट कर गिराया करती हैं।"

"क्या मैंने गिलहरियों का ठेका लिया है ?

"पालने वाली तो तुम्हीं हो न ?"

"जानवर हैं, खाने की चीज़ खाते हैं, इसके लिये मैं क्या करूँ ? इन दो को मैंने यहाँ आकर पाल लिया है, यहाँ पर हज़ारों गिलहरियाँ हैं, जाने कितनी ही चिड़ियें आती हैं, मैं इस लिये ज़िम्मेदार नहीं।"

"यह सब मैं कुछ नहीं जानता, अपनी गिलहरियों को रोको; वरना—"

"क्या—क्या करोगे तुम ?"

"यदि फिर भी वह कपास के फल काटेंगी, तो मार के फेंक दूँगा। गिलहरियों का वंश निर्वंश करके तभी मैं दम लूँगा।"

"जाओ।"—सोहिनी ने हाथ के संकेत से पथ दिखला कर कहा—"बस अब कोई बात सुनना नहीं चाहती—जाओ।"

"अच्छी बात है, जो कुछ कहना था कह चुका।"

"देखा जायगा।"

"देख ही लेना।"

"असभ्य, भिखमंगा !" क्रोध—घृणा से फूलती-फूलती वह कह उठी।

असित ने एक बार अवहेलना से उसे देखा, फिर चल दिया।

—:०:—

(२)

प्रकृति थी उस दिन मूक, मौन, समाहित। एक भी पत्ता नहीं डोलता, एक भी काग नहीं बोलता, एक भी फूल नहीं बिथरता। एक भी तितली नहीं काँपती।

आकाश के पर्दे में सूर्य डूब मरा था और विश्व के प्रान्त में सूर्य की किरणें। द्विप्रहर की बेला में धूसर वर्ण व्याप्त था। प्रकृति की गुलाली हँसी पर रोदन का नीलम लेप चढ़ा हुआ था।

वैसी एक वेला में सोहिनी बाहर की दालान की सीढ़ियों पर अपनी इली-मिली को हृदय से चिपका कर बैठी उस नृशंस लीला को देख देख कर सिहर रही थी। दास-दासी काम-काज के अवसर पर विश्राम ले रहे थे, गृहस्वामी बाहर गये हुए थे। और अपने बँगले के वृक्षों पर चढ़-चढ़ कर वह हठी असित वृक्ष-कोटरों से गिलहरियों के शावकों को निकाल-निकाल कर धरती पर पटक रहा था। गिलहरी शायद उसकी पहुँच से बाहर थीं, सो वह अपना विफल आक्रोश शावकों पर ही निकाल रहा था।

सोहिनी के जी में एक बार आया कि उस चाण्डाल, अपढ़

व्यक्ति को नौकरों से कह कर निकलवा दे, फिर भी वह वैसा न कर सकी, जैसे एक अलक्ष प्रभाव के नीचे, असीम स्पर्द्धा के सामने उसका साहस दब रहा। मन में वह सहस्त्र बार उस कार्य की निन्दा करने लगी। अपने अश्रुसिक्त नेत्रों को लेकर वह वहाँ से हट जाना चाहने लगी और अन्त तक प्रस्तरमूर्ति की भाँति सोहिनी वहीं पर बैठी रह गई। कभी वस्त्र के भीतर से गिलहरियों को निकाल कर चूम लेती—उस तरह—जैसे किसी मृत्यु-मन्दिर में पहुँच कर माता अपनी सन्तान के भविष्य अशुभ किन्तु अलीक चिन्ता से शंकित होकर सन्तान को हृदय-रन्ध्र में छिपा लेना चाहती है। उस चुम्बन को, प्यार को देख-देख कर वृक्ष पर आरूढ़ असित के नेत्र क्रोध, द्वेष, वितृष्णा से आच्छन्न से हो रहे।

कभी दो जोड़े नेत्रों की दृष्टि एकत्रित हो जाती—एक छोटे पल के लिये और वह छोटा पल विराग, अवहेलना से भर उठता।

अन्धकार फैलने के पूर्व ही जय की खुशी में झूमता हुआ असित वृक्ष पर से उतरा। मरी हुई गिलहरियों को एकत्रित कर बाहर फेंक आया। फिर चरखा लेकर सामने बैठ गया।

अब तक बैठी थी सोहिनी उस नृशंसता की साक्षी रूपही से। अब वह उठी, अपनी इली-मिली को प्यार करती हुई भीतर चली गई।

भोर बेला में जीवन का प्रकाश भर चुका था, किन्तु निद्रा

की अलसता तब भी मिट न पाई थी। असित के नेत्रों से निद्रा का अन्तिम आवेश जा नहीं पाया था। "इली-मिली, इली-मिली।" वह स्वर आर्तनाद-सा झाड़ी-झुरमुटों में पछाड़ें खाता फिरने लगा। असित उठ कर पलंग पर बैठ गया, लगा उसे—जैसे रो रो कर माता अपने बिछुड़े हुए बच्चों को बुला रही है। उस स्वर के आवरण में जो एक व्यथित आह भरी हुई थी, उस आह में जैसे वह समाने-सा लग गया। जी उसका न जाने कैसा कर उठा। वह एक दम बाहर आकर खड़ा हो गया—खुले बदन, एक मोटी—घुटनों तक की धोती पहने हुए।

"इली-मिली।"—रो रो कर पुकारती फिर रही सोहिनी प्रत्येक वृक्ष-लता के नीचे उर्द्धमुख से खड़ी हो जाती और करुण स्वर से पुकार उठती।

असित को सामने देख कर जैसे उसके शोक, वेदना का महासागर उमड़ पड़ा—"तुम ने मेरी गिलहरियों को मार डाला।" उस अनुयोग में न उत्ताप था, न दाह था। एक अपनेपन का अनुयोग, जो कि शायद उस लड़की ही के अलक्ष में उसके कण्ठ में भर उठा हो।

और उस अनुयोग से परिचय के मुख में असित—वह कठोर-चित्त, अविनयी असित—वही असित—जिसके क्रोध के हुताशन में अभी कल ही पचासों गिलहरियाँ चढ़ चुकी थीं—वही असित उस अनुयोग के सामने रह गया एक अपराधी की तरह मौन, अचल।

"कहो—कहाँ हैं मेरी इली-मिली ?"—उस अपराधी मुख को निहारती हुई शुष्क कण्ठ से फिर सोहिनी ने पूछा—"मार डाला न उन्हें ?"

"मैं ने ? नहीं तो।"—इतनी देर के बाद बात कर पाने से असित का जी कुछ हलका हुआ।

"नहीं—मारा ?"—सन्दिग्ध भाव से वह बोली—"लाल-लाल बिन्दी हैं जिन दो के माथे पर, ऐसी गिलहरियाँ मारी हैं तुम ने ?"

"नहीं।"

"नहीं ? किन्तु मुझे लगता है तुम्हीं ने मारा है।"

"कल जब मैं गिलहरियाँ मार रहा था, तब तो तुम उन दोनों को लेकर बैठी थीं न। और आज मैं उठ रहा हूँ अभी ही। अब तुम ही कहो कि मारा भी तो कैसे मारा और कब मारा ?"

विचार कर सोहिनी बोली—"यह भी ठीक है। और यदि रात में मारा हो ?"

"नहीं—नहीं।"

"फिर वह कहाँ गईं ? बुलाने से आतीं क्यों नहीं ? उनके बिना मैं रहूँगी कैसे ? ला-दो मेरी गिलहरियाँ। उनके बिना मैं खाऊँगी कैसे ? वे भूखी होंगी—" कहते-कहते उसके नेत्र छलछला आए। एक समय वह अनायास असित का हाथ पकड़ कर खड़ी हो गई—"दे दो मेरी इली-मिली।" उस आवेदन को असित ठुकरा न सका।

"चलो।" कहा असित ने इस तरह मानों उन्हें सहेज-सँभार कर वहीं कहीं रख आया हो और अभी अभी खोज निकालेगा।

आशा-आश्वास से सोहिनी उसके पीछे चल पड़ी। कहने को तो कह गया असित कि चलो, और उद्यान में पहुँच भी गया। किन्तु कहाँ वे मिलेगीं—सो उसकी बुद्धि के अगोचर था।

"कहाँ हैं वे ?" आग्रह से पूछा सोहिनी ने।

"वही तो मैं भी सोच रहा हूँ। तुम उन्हें पुकारती चलो। क्या नाम है उनका लीली, सीली ?"

इतने दुख में भी सोहिनी हँस पड़ी—"तुम बड़े भुलक्कड़ हो। लीली-सीली नहीं, इली-मिली।"

"फिर इली-मिली ही सही, और तुम्हारा नाम ?"

"सोहिनी"

"सोहिनी ? मज़े का नाम है। है न यह किसी रागिनी का नाम ? हाँ—हाँ, गुरु जी सोहिनी बहुत गाया करते हैं। उन्हें तुम पुकारती चलो, सोहिनी।"

घने पल्लवों से घिरे बरगद के नीचे वे दोनों पहुँच भी न पाए थे कि गिलहरी का जोड़ा सोहिनी पर कूद पड़ा। चौंक कर असित ने देखा—"लो आगईं तुम्हारी गिलहरियाँ और तुम मुझे चोरी लगा रही थीं।"

आनन्द-विभोर सोहिनी ने उन्हें हृदय से चिपका लिया। प्यार की मीठी मीठी थपकियाँ देती हुई मृदु मृदु धमकाने लगीं।

सहसा वह कह उठी—“ये भूखी हैं।” और वैसे ही हटात् वह अन्तर्ध्यान हो रही। असित ने विस्मय से उधर देखा फिर नित्य-कर्म में जुट पड़ा।

दिन कटते। वे कभी एक दूसरे को दूर से देख लेते, कभी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक दूसरे के आमने-सामने खड़े हो जाते, कभी एक दूसरे को वचन-विन्यास से, व्यंग-कौतुक से विद्ध करते, कभी लाठी ताने असित गिलहरियों को मारता-फिरता, दूर बैठी सोहिनी उस कार्य की कठोर आलोचना करती। असित इली-मिली को मार डालने की शपथ लेता और सोहिनी के नेत्र क्रोध से समुद्र के फेन समान फेनिल हो जाते। सोहिनी शपथ लेती उसकी ओर कभी न देखने की और सन्ध्या के पूर्व ही उस बँगले की ओर आँखें गड़ा कर इजि चेयर पर बैठ जाती, पाठ्य-पुस्तक गोद पर खुली पड़ी रह जाती। गिलह-रियाँ उसके एलायित कुन्तल में लुकाछिपी खेला करती, सोहिनी की दृष्टि सतर्क प्रहरी की भाँति उस बँगले पर प्रहरी के कार्य में नियुक्त रहती।

सोहिनी तब पढ़ रही थी परन्तु आँखें उसकी नियुक्त थीं प्रहरी के कार्य में। उस दिन तब तक भी प्रतिवासी उसका घर नहीं पहुँचा था। अन्यमनस्का सोहिनी का उत्क्षिप्त चित्त कब पाठ में रम गया सो वह जान-समझ तक न पाई। सहसा एक समय उसने चौंक कर देखा असित म्लान, सजल नेत्रों से उन गिरे हुए कपास फलों को देख रहा है। देखते देखते सोहिनी को लगा—

अपने व्यथित श्वास में वह तरुण समा कर निश्चिह्न हो जावेगा। विस्मय से सोहिनी ने और भी देखा—वह कठोर चित्त का किशोर उन तुच्छ फलों को किस ममता, किस वेदना से देख रहा है। आँसू से किस प्रकार अन्धा हो रहा है। सम-वेदना से उस घड़ी हठात् ही सोहिनी के हृदय में स्नेह की फल्गुधारा वह निकली। उसी धारा में बही बही वह वहाँ तक पहुँच गई। असित का हाथ अपने हाथ में उठा लिया, पूछा—"इतने फल बर्बाद हो गये ? और आज ही ?"

"हाँ, देखो न सोहिनी।" उद्धत असित उस समय हठात् ही विनीत हो रहा।

"बहुत खराब हैं ये गिलहरियाँ।"

"देखो न। अब तुम्हीं कहो कि उन्हें मैं क्या दूँगा ?"

"किस को ?"

"गुरु जी को।"

"गुरु जी भी हैं तुम्हारे ?"

"हैं ही।"

"कल से मैं इन फलों को देखा करूँगी।"

"तुम ऐसा करोगी सोहिनी ? इन रुई के फलों को बचाओगी ? बड़ी अच्छी लड़की सोहिनी है। देखना अच्छी लड़की, वरना मैं गुरुदक्षिणा भी न दे सकूँगा।"

"देख लेना मैं किस तरह पहरा देती हूँ।"

"अच्छी बात है। गुरु जी से तुम्हारी बात भी कह दूँगा।"

"वह हैं कौन गुरु जी तुम्हारे ?"

"मेरे गुरु जी ? अजी मेरे क्यों, वह इस सारे हिन्दुस्थान भर के गुरु हैं, मालिक हैं ।"

"ऐसे नामी, गुनी आदमी हैं वह ?"—विस्मय-सम्भ्रम से सोहिनी भर उठी ।

सो तब अत्यन्त गर्व से असित कहने लगा—"जानती हो सोहिनी उनके पीछे पुलिस दिन रात भटकती फिरती है । किन्तु उनकी छाया तक वह नहीं देख पाती है । उनके नाम से दुनियाँ काँपती है । जो चाहें सो वह कर सकते हैं । सुनती हो ? यदि वह चाहें तो पल भर में देश का देश उजाड़ डालें । कितना कहूँ ?"

"ऐसे हैं वह ?"—सोहिनी रोमाञ्चित होने लगी । और असित खड़ा खड़ा जाने क्या क्या बक चला ।

एक समय सोहिनी ने पूछा—"परन्तु रुई के फलों को लेकर वह क्या करते हैं ? क्या गिल्ली-डण्डा खेलते हैं ?"

"दत् मूरख, इन फलों से रुई निकलती है, वह तो जानती हो न ? हाँ तो, उस रुई से सूत काता जाता है, फिर उसी सूत के ये कपड़े, जो कि आदमी पहनते हैं । गुरु जी का यह काम हर शहरों में चल रहा है, समझीं ? मैं इन्हीं फलों की रुई से सूत कात रहा हूँ । अपने हाथ से कपड़ा बुन कर उन्हें पहनाऊँगा, वही होगी मेरी गुरुदक्षिणा । यों तो उनके पचासों छात्र देश-देश में हैं ।"

"समझी । अच्छा, तो तुम उनके प्रधान छात्र हो ?"

"हाँ, नये और कम उमर में इस शहर में हम ही दोनों प्रधान हैं।"

"तुम और कौन ?"

"मैं और सुनील।"

"किन्तु तुम्हारे सिवा यहाँ पर तो और कोई भी नहीं दीखता।"

"वह अभी अपने गाँव में गया है।"

"है कौन वह सुनील ?"

"सुनील ? वह है मेरा सब कुछ, सुनील और मैं, बस दुनियाँ में हम दोनों तो हैं ही। हैं हम दोनों एक ही।"

"ऐसा ! तो वह गाँव गये हैं ? क्या खेती-बाड़ी भी है ?"

"उसकी पत्नी बीमार है ?"

"शादी भी हो गई है ?"

"हाँ, जब सुनील अपनी माँ की गोद में था तभी उसकी शादी हो चुकी थी।"

विमूढ़ विस्मय से सोहिनी ने पूछा—"सो कैसे ?"

"वैसा होता है।"

"होता है ? मैंने कभी सुना नहीं था। यदि उनकी स्त्री है, तो वह यहाँ क्यों रहते हैं ?"

"फिर कहाँ रहे ? स्त्री को तो उसने इससे पहले कभी देखा ही नहीं। इस बार गया है, वह भी गुरु जी की आज्ञा से।"

"अपने गुरु को कभी तुम ने देखा है ?"

"सैकड़ों बार। रोज रात को देखा करता हूँ।"

"वह भी कैसे ?"

"यहाँ मेरे पास हट आओ।"

असंकोच सोहिनी उसके निकट चली गई। और तब एक सतर्क दृष्टि से चारों ओर देख कर असित ने उसके कान में लग कर कुछ कहा। आतंक से सोहिनी काँपने लगी। असित ने उसे निकट बैठाया। अवहेलना से बोला—"तुम से कभी कुछ न बन सकेगा। पहले नम्बर की डरपोक हो।"

उपविष्ट व्यक्ति के साहस, बल, पराक्रम के नीचे मानो सोहिनी दब सी रही, विनीत स्वर से बोली—"अब देखना, मैं कभी भी न डरूँगी।"

उसका पीठ ठोंकता हुआ कहने लगा असित—"बस, यही तो चाहिये, डर काहे का ? कापुरुषता, कायरता कैसी ? पीछे लौट कर देखना कैसा ? बढ़ो, आगे बढ़ते चले जाओ।"

विज्ञ भाव से सिर हिला-हिला कर बहुदर्शी वृद्ध की भाँति कह चला वह—"बढ़ते चलो, पीछे लौटने की जरूरत नहीं। स्वाधीन सत्ता को सँभालना आदमी का पहला काम है। अपनी सत्ता, अपनी सूझ को हम बेच नहीं सकते हैं। पराया कर नहीं सकते हैं। दुनियाँ भरा यह उजेला, यह स्वाधीन-स्वच्छ हवा, यह सब जैसे इसी दुनियाँ में रह रही हैं, दुनियाँ की अपनी हैं और दुनियाँ उनकी है, वैसे ही हम भी हैं, हम दुनियाँ के हैं, वह हमारी है। न कहीं वाधा है, नहीं ही है विपत्ति, एक उद्दाम, सरल, सहज बहाव बस।"

पुलक, विस्मय, असीम श्रद्धा से सुनते-सुनते सोहिनी ने पूछा—"ऐसी सब बातें तुमने कहाँ सुनीं, किस से सीखीं ?"

"मेरे गुरु जी से।"

"मैंने ऐसी बातें कभी न सुनी थीं।"

एक सर्वज्ञ की भाँति वह हँसा—"यह तो छोटी साधारण बातें हैं। तभी तो इन तुच्छ गिलहरियों में अपने चित्त को भरमाए रहती हो। यह है कापुरुष चित्त की कल्पना, बच्चों का खेल।

"तो इन्हें न पालूँ ?" डरते डरते सोहिनी ने पूछा।

"इनको ?" और फिर सोहिनी के उस व्यथातुर मुख को देख कर असित का स्वर पल-पल में दयाद्र हो उठा—"पाल सकती हो, किन्तु इनमें अपनी सत्ता को मत भरो। अरे रात हो गई है।"

सोहिनी सहमी—"कब रोटी बनाओगे, भोजन करोगे ? वह लोग आते ही होंगे।"

"चुप-चुप। क्या कह रही हो ? तुम ऐसी भुलक्कड़ हो ? गुरु जी कहते हैं, औरतें होती ही ऐसी हैं।"

भय, लज्जा से सोहिनी सिकुड़ कर इतनी सी हो गई—"भूल हो गई, अब कभी मुँह से ऐसी बातें न निकालूँगी। शपथ लेती हूँ।" "आदमी और शपथ ? गुरु जी कहते हैं—शपथ दुर्बल चित्त की भावना है। अपने-आप को शपथ की परिधि में सौंपना है। सो क्यों ? आदमी को शपथ की ज़रूरत ही क्यों पड़े ?

क्या स्वयं वह इतना कमज़ोर है ? क्या अपने पर विश्वास वह नहीं कर सकता ? यदि नहीं, तो शपथ से भी कुछ नहीं होने का। हाँ, फिर कहना मत किसी से।"

"न कहूँगी, तुम मुझ पर विश्वास करो, अब कभी ऐसे शब्द मुँह से न निकालूँगी।"

"मुझे विश्वास है तुम्हारी बातों पर—पूर्ण विश्वास। अच्छा अब मैं काम करूँ।"

दोनों अपने अपने घर चल दिये।

दूसरे दिन सन्ध्या-वेला घर लौट कर असित प्रसन्न-खुशी से भर उठा। उस दिन कपास के फल गिलहरियाँ एक भी काट न सकी थीं और सोहिनी उन्हीं वृक्षों के नीचे बाँस लिये तब भी बैठी थी।

उसे देख कर सोहिनी उठ कर खड़ी हो गई—"लो—अपने झाड़-पेड़ सँभालो, सब फल लगे हुए हैं।"

अत्यंत आदर-प्यार से असित ने उसकी पीठ ठोंकी—हाँ, समय, काल, पात्र को भूल कर ही—"शाबास सोहिनी, यही तो चाहिये, तुम उनकी प्रधान छात्रा होने के योग्य हो। दिन भर यहीं थीं ?"

"थी।"

"बड़ा कष्ट हुआ होगा न, सोहिनी ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।' कहती वह भाग निकली।

—:o:—

(३)

छः बजे सन्ध्या के कुछ पूर्व असित घर पहुँचा। सर्वप्रथम आँख उठी उसकी कपास वृक्षों की तरफ़। क्रोध से असित झल्ला उठा, कुछ कटे फल नीचे पड़े हुए थे। वक्रदृष्टि से उस बँगले की ओर देखा—कहीं कोई नहीं था।

कुछ देर तक प्रतीक्षा करता रहा—वहीं खड़ा-खड़ा। नित की भाँति राशि-राशि प्रश्न, कौतुकपूर्ण हँसी—सो मीठी हँसी लेकर किसलय-सी वह किशोरी न पहुँची। नित की भाँति किसी ने उसका स्वागत न किया।

रुद्ध खेद से वह असहिष्णु हो उठा, असित को स्मरण हो आया—आज वह जल्दी आ गया है और कदाचित् उसी से ऐसा अनियम है। किन्तु यह कटे फल? फलों को देख-देख कर वह झुँझलाने लगा। बँगले पर पहुँचते-पहुँचते उस दिन की शास्ति देने की व्यवस्था भी उसने कर ली—मन ही मन। शास्ति? बस...गम्भीर चुप्पी, उसके शत-शत प्रश्नों की अवहेलना कर वह फलों से रुई निकालने में लगेगा, कातेगा और सूत के लच्छे बनाएगा।

दरवाज़े पर पहुँच कर असित को अवाक् रह जाना पड़ा, मुँह लाल किये, आँखों को रगड़ती हुई वह धनवान की दुलारी सोहिनी अपने अनाड़ी हाथों से उसके लिये रसोई बना रही थी।

अपनी आँखों से न देखने से असित शायद ही विश्वास करता।

सब बातों को भूल कर असित पुकार उठा—"यह हो क्या रहा है ?"

"तुम आ गये ! और ऐसी जल्दी ?"

"किन्तु तुम क्या कर रही हो ? धुएँ से आँखें फूल उठी हैं, मुँह लाल हो रहा है। बस कल पड़ जाना बीमार, मैं तब झाँक कर भी न देखूँगा।"

"न देखना।"—स्मित हास्य से वह बोली।

"तो रसोई बनाने की ज़रूरत क्या थी ?"

"तुम दिन भर काम-काज कर थक जाते हो।"

"अच्छा, ऐसी बात ? रोज़ बना दिया करो तब जानूँ।"

"बना ही दिया करूँगी।"

"झूठी। महीना भर के बाद तो चली ही जाओगी।"

सोहिनी चुप रही।

कहने लगा असित—"यदि तुम सच ही जाना न चाहो तो अपने दादा जी से कह सकती हो यहाँ रहने के लिये।"

"कहा था, वह नहीं मानते।"

"वह नहीं मानते ? किन्तु अपने मत के विरुद्ध तुम कोई

15398

काम करो भी क्यों ? गुरु जी कहते हैं—आदमी का सब से बड़ा दुर्भाग्य है—अपने मत के विरुद्ध कुछ करना।"—सोहिनी के जिज्ञासापूर्ण नेत्रों के प्रति दृष्टि निवद्ध किये वह कह चला—"तुम में इतना साहस नहीं है कि अपने मत के अनुसार चल सको। और ऐसी एक तुम होना चाहती हो हमारे क्लब की मेम्बर ?"

"तो मैं नहीं हो सकती हूँ मेम्बर ?"—डरते डरते उसने पूछा।

"नहीं।"—कह कर असित दबी आँखों से उसका मुँह निहारने लगा।

"मेरा भाग्य।"—हताशा मानो सोहिनी के स्वर में आकर विशिष्ट हो रही थी।

उस स्वर को सुन कर असित का चित्त दयार्द्र हुआ—"तुम यहाँ से जाओ भी क्यों ?"

"दादा नहीं मानते।"

"अपनी इच्छा से तुम रह नहीं सकतीं ? औरतें ऐसी ही होती हैं।"—फिर गम्भीर मुद्रा से बोला—"अच्छा एक काम कर सकता हूँ, हमारे क्लब की शाखा प्रत्येक शहर में है। तुम्हारे शहर में भी है। उसका पता, हाँ, आओ—कान में सुनो। वहीं जाया करना, मैं गुरु जी से कह दूँगा, बस वहीं जाया करो, किन्तु बहुत ही छिप कर। फिर भी मैं कहता हूँ अनिच्छा रहते हुए तुम यहाँ से जाओ भी क्यों ? कह दो—मैं नहीं जाती।"

"कह दूँगी।"—असित की बातों से वह प्रभावित हो रही थी।

"अच्छी लड़की, हटो, सिर दरद करने लगेगा।"

"रसोई तैयार है। मैं जा रही हूँ। मेरी इली-मिली भूखी होंगी, रोती होंगी।"

गिलहरियों की बात से असित उत्तप्त हो उठा—"अब यहाँ आने की ज़रूरत नहीं, जाओ।"

"क्यों?"—भय-विवर्ण मुख से सोहिनी ने पूछा।

"गिलहरी लेकर रहो, यह सब वीरोचित काम तुम्हारा नहीं है, जो जानवर ऐसी हानि पहुँचावे उन्हें ही पालना।"

"अब फल कहाँ कटते हैं?"

"जाकर देखो बिछे पड़े हैं।"

"सच? मैं तो दिन भर उन्हें भगाती रही, घण्टे भर पहले रोटी पकाने बैठी हूँ।"

"देख लिया न एक ही घण्टे में इन लोगों ने कैसी हानि पहुँचाई।"

इस बार सोहिनी को स्वीकार करना पड़ गया कि गिलहरियाँ अच्छी नहीं होतीं। सो यह भी कहना पड़ा कि आगे कभी न पालूँगी।

"अच्छी लड़की। इली-मिली को भगा दो।"

"भगा दूँ?"

उस अश्रुरुद्ध आवाज़ को सुन कर सदय भाव से असित ने कहा—"अच्छा रहने दो। आगे कभी न पालना।"

इसके बाद विरोध की छोटी आँधी हलकेपन से उड़ गई। दोनों मित्र भाव से बातें करने लगे।

असित भोजन पर बैठा, निकट में गिलहरियाँ लिए बैठ गई सोहिनी, पूछा—"भोजन बिल्कुल ख़राब बना है न ?"

जली हुई दाल और नमकपूर्ण तरकारी का स्वाद लेता हुआ परितोष के साथ उत्तर दिया असित ने—"बहुत अच्छा बना है, आज मैं भर पेट भोजन करूँगा। सच कहता हूँ मेरे हाथ की रसोई इतनी अच्छी नहीं होती।"

"झूठ।"—लजा रही थी सोहिनी।

भोजन के बाद चरखा लेकर असित बैठ गया और तब सोहिनी प्रस्थान उद्यत हुई।

"आज रात बारह बजे के बाद चुपके से आ जाना, गुरु जी से परिचय करा दूँगा, तब हमारी मण्डली में भर्ती हो जाना।"

सोहिनी चुप रही।

"समझी ? बड़ी सावधानी से आना।

इतने पर भी सोहिनी को चुप रहते देख कर असित झुँझला पड़ा—"बहरी हो क्या ?"

"मुझे डर लगता है।"—कहने को तो कह गई सोहिनी कि डर लगता है, परन्तु असित की मुखाकृति को देखकर वह लज्जा से दबक रही।

वात्सल्य के साथ असित कहने लगा—"डरपोक। ऐसी भीरु के लिये हमारे क्लब में जगह भी तो नहीं है न।"

"मैं भीरु हूँ ?" डरते डरते सोहिनी ने पूछा।

"हो ही। जाओ, गिलहरियों के साथ ही तुम रहने योग्य हो।"

सोहिनी को बैठते देख कर असित ने पूछा—निविड़ विस्मय से—"जाती क्यों नहीं हो ?"

वह चुप रही।

"बड़ी मुश्किल की बात है, जाती भी नहीं, पूछने पर कुछ कहती भी नहीं। आख़िर तुम चाहती क्या हो ? अरे तुम रो रही हो ?" उठ कर असित उसके निकट बैठ गया, प्यार से पीठ थपथपाने लगा।

"अपने क्लब में मुझे ले लो।"

देर तक असित अपनी बान्धवी को देखता रहा, पूछा—"आख़िर बात क्या है ? कुछ साफ़ भी तो कहो।"

"मुझे डर लगता है।"

"फिर क्लब में आना भी क्यों चाहती हो ?"

"जाना नहीं चाहती।"

"तो ?" विस्मय से असित हतवाक हो रहा।

"मुझे मेम्बर बना लो।"

"निरी पहेली-सी कह रही हो। क्लब में जाना नहीं चाहती, डर लगता है। फिर भी कहती हो मेम्बर बना लो।"

"मैं क्लब में जाना चाहती हूँ।"

"फिर भी वही बात। अब मेरा पीछा छोड़ो, चली जाना।"

सोहिनी का चित्त कुछ स्वस्थ हुआ, पूछा—"जब हम यहाँ रहने को आए थे, तब तुम्हारे बँगले में दो आदमी और थे, वह दोनों कहाँ गये ?"

"वे दोनों ? उनमें का एक सुनील था, वह जल्दी आवेगा। दूसरे थे इन दोनों बँगलों के मालिक और गुरु जी के प्रधान शिष्य। अभी वह प्रचार के लिये दूसरे देशों में घूम रहे हैं।"

उन थोड़े दिनों के भीतर सोहिनी उस क्लब की अपनी एक बन बैठी। यद्यपि उसे डर लगता रहता, यद्यपि वहाँ की कार्य-रीति को, उन निशाचरों-से मनुष्यों के रहन-सहन को देख-सुन कर उसके शरीर में रोमाञ्च हुआ करता, फिर भी वह उस मण्डली को त्याग न सकती, क्लब के किसी की अथवा असित की कोई छोटी आज्ञा का पालन कर अपने को धन्य, कृतार्थ समझती। असित के साहस, शौर्य, वीर्य पर उसका किशोर हृदय मुग्ध होता रहता। नित वह कपास वृक्षों का पहरा देती। असित के लिये एक वेला भोजन बनाती और पितामह से छिप कर गहरी रात में मण्डली में मिल जाती।

असित बैठा चरखा कात रहा था। वस्त्र के लिये सूत प्रायः तैयार था। दस-पाँच कपास के वृक्ष और भी लगा दिये थे। सूत कातता हुआ विचार रहा था वह उस दिन की निशीथ सभा में अपनी कल्पना को निवेदन करने की बात। हाँ, कपास की खेती वह वृहत् आकार में करना चाहता है। बगल में पड़ी हुई उस ज़मीन को वह इस कार्य में उपयोगी समझता है।

ऐसे ही समय संकुचित चरणों से पहुँच गई सोहिनी। दिन भर के बाद वह आना। असित ने उसे देखकर भी न देखना चाहा। कुछ देर तक वह चुपचाप खड़ी रही। फिर चरखे के सामने आकर बैठ गई। असित के हाथ और भी शीघ्रता से चलने लगे। आधा घण्टा योंही व्यतीत हुआ, सो वह तब उठ-कर खड़ी हो गई। जिस बात को वह कहने आई थी उसे कह सकने का साहस एकत्रित कर न सकी।

उसे जाते देख असितने गंभीर स्वर से कहा "रूई के फल चाहे सब ही गिलहरियाँ काट गिरायें, फिर हानि भी क्या है। वह तो दो दिन का आवेश था, थी उत्तेजना बस। आई और गई।"

"दिन भर मैं सामान रख रही थी न। रात की गाड़ी से हम जा रहे हैं।"

"जाओ न, तुम्हें रोकता भी कौन है। भीरू लड़की, तुम्हारे बिना कौन-सा काम अटकने को है। जाओ।" उसने एक बार सजल नेत्रों से देखा, फिर धीरे धीरे निकल कर चल दी।

परन्तु सोहिनी के जाने से घण्टे भर पहिले देखा गया वि असित अत्यन्त व्यस्तता से सोहिनी के सामानों को बाँध-सहेज रहा है। गिलहरी के जोड़े को सावधानी से पिंजड़े में रखक द्वार बन्द कर दिया। फिर सोहिनी का हाथ पकड़ कर बोला—

"घबराना नहीं। वहाँ भी इस क्लब की शाखा है। पता याद है न, कभी चली जाया करना। हम लोग भी वहाँ जाते हैं यहाँ तो कुछ भी नहीं है, वहाँ बहुत कुछ है। कितनी ही न अद्‌भुत-बातों को देख-समझ पाओगी।"

चलते समय कपास वृक्ष के नीचे पहुँच कर सोहिनी-सिसक-सिसक कर रो पड़ी। अपनी धोती के छोर से असित ने उसके आँसू पोंछे, कहा—"रोना तो कापुरुष -मन का चिन्ह है। रानी लड़की, रोना कैसा। छुट्टी में तो आही रही हो; मीठी लड़की, रोते नहीं।"

इन बातों से उसके आँसू द्विगुन हो गये।

रोदन-रुद्ध स्वर से सोहिनी ने कहा—"इन फलों को अब कौन देखेगा ?"

जबतक सोहिनी की गाड़ी दृष्टि से बहिर्भूत न हुई तब तक असित वहीं पर खड़ा रहा। गाड़ी दृष्टि के बाहर होने के बाद एक छोटा श्वास बिछुड़ी हुई बान्धवी के लिये छोड़कर वह काम में जुट पड़ा।

—:o:—

Love is [illegible]
I ~~Love~~ thought other
Sisters are my
Sisters. [illegible]

मास, पक्ष, दिन, मिनिट, पलों में युगों का प्राण शेष हो जाता है, फिर वर्ष की कौन कहे। दो-चार नहीं, परन्तु द्वितीय वर्ष प्रायशेष की सीमा में पहुँचते पुनः भेंट हो गई उन दोनों की। समुद्र के किनारे, ग्रीष्म के एक ऋषि-तुल्य भोर की बेला में।

वही बँगले, वही उद्यान, वही फुदुकती, धूम मचाती गिलहरियाँ, नवीन-पुरातन वही कपास के वृक्ष, वही समुद्र, उच्छ्-सित-राशि राशि जल—अथाह, अगाध जल—पर्वत सी, परन्तु सचल, तरंगों की विचित्र लीला, वही विशाल तट; और वही बान्धव बान्धवी।

एक ने देखा दूसरे के प्रति ज़रा-सा-हँसकर, ज़रा-सा लजा-कर, ज़रा-सा दबकर। दबी खुशी, दबा छल, दबा हुआ देखना, सो दबा ही सम्भाषण।

उस मौन-मूक समभाषण में जैसे पूछा—'अरे तुम'?

दूसरे ने उत्तर दिया—'वही तो'।

'तो बीते हुए वर्षों ने इतना, ऐसा परिवर्तन क्यों, सो कैसे कर दिया?'

हाँ;—उस मौनता में मानों प्रश्न उत्तर भर पनप उठे—

'कैसा ? मैं तो कुछ भी नहीं जान पाती।'

"कुछ लम्बी, दुबली, लजीली,-ऐसे अनेक-अनेक।"

"सच ? किन्तु मैं कुछ भी नहीं जान पाती।'

"सो उस किशोरी की भी चोरी हो गई।'

"कैसे ?"

'वर्ष शेष की किसी एक रात में।'

"होगा भी। और इधर उस किशोर को भी तो चोर ने हर लिया।"

'ऐसा। सो किसने-किसने ?'

'पागल यौवन की गुल्फ रेखा ने।'

'सच ?'

'झूठ भी कैसे ? दर्पण में देखो न।'

मौनता को भङ्ग कर पहले पूछा असित ने—'कब आई ?'

"कल रात में।"

"और दादा ?"

"उन्हीं के साथ आई हूँ।"

"और गिलहरी के जोड़े ?"—असित को लगा उसके प्रश्न से सोहिनी के नेत्रों में आँसू भर आए। और जब वह आँसू चू पड़ने को हुए, तब सर्वज्ञ की भाँति कह उठा असित—"मर गई ? जाने भी दो, दूसरी पाल लेना"

"नहीं।"

"तो जाने दो" ।—और फिर प्रसंग परिवर्तन के लिये वह कहने लगा, "जब से तुम गई हो, तब से कपास के फल सब बर्बाद हुआ करते हैं, देखो न इन डेढ़-दो वर्षों में कुल थोड़ी-सी धोतियाँ बन सकीं ।"

"चलो, जाने दो, अब मैं सब देखा करूँगी, तुम्हारी उँगली में क्या हो गया है ?"

और फिर इसी प्रकार से बीच का वह दूरत्व का व्यवधान कब निकटतर होकर, बीच का वह रन्ध्र नैकट्य में पूर्णतः भर उठा; सो उन दोनों में से एक भी न जान पाया ।

उस दिन घर लौटकर देखा असित ने—पुस्तकों-कागजों के ढ़ेर सामने रखे मूर्ति की भाँति बैठी है सोहिनी । ज़रा मनयोग से देखने से उसे ज्ञात हुआ कि आलमारी, टेबुल, ताकों पर जहाँ जहाँ कागज़-पुस्तकें थीं सबको बीन-बटोर कर एकत्रित किया गया है ।

"क्या बात हो गई है सोहिनी ?"—आगत हँसी को रोक-कर असित ने पूछा "ऐसी अच्छी किताबों को कीड़े-दीमक से चुनवा लिया ? देखो, यह सब एक दम नष्ट हो गये हैं । डेढ़-दो वर्षों के भीतर क्या घण्टे भर का वक्त भी नहीं मिला कि इन्हें देखते ?"

"नष्ट हो गये तो जाने दो, तुम्हारी बला से । तुम तो चली गई थी न ।"

किन्तु इस उल्टे दोषारोपण को भी सोहिनीने सहज भाव से

माथे पर उठा न लिया, पर दिया सलाई जलाकर उस ढ़ेर में रख दी।"

"जला ही डाला इन्हें।"–कौतुक से असित हँस रहा था।

"हाँ। बाकी बचे दो–दस पन्ने को काटने में दीमक को फिर भी दो-चार दिन लग जाते। चलो छुट्टी हुई।"

"तो तुमने उन्हें और मुझे इस जल्दी से छुट्टी दे दी, यही है न ?"

सोहिनी रुद्धक्रोध से निर्वाक रही।

"अब हाथ जलाना पड़ेगा या खाने को कुछ है ?"

आज उस बँगले में है, वहीं चलो।"

दादाजी से परिचित होने के बाद असित अबाध रूप से सोहिनी के घर जाया करता था।

"यहीं ला दो।"

"मैं नहीं जा सकती।" सोहिनी रूठकर बैठ गई।

असित पलंग पर पड़ रहा। सोहिनी ने उसे दबी आँखों से देखा, फिर डरती हुई बोली—"हाथ–मुँह धो डालो, भोजन यहीं लाए देती हूँ।"

असित को चुप रहते देखकर उसका जी धड़कने लगा—'ला दूँ ?"

"नहीं।"

"अभी कहते थे न, भूख लगी है ?"

"अब नहीं है।"

"गुस्सा हो गये ? उठो न।"

"दिक मत करो सोहिनी, माथा दुख रहा है।"

सोहिनी उठकर बाम की शीशी ले आई, तब उसके सिरहाने बैठ कर धीरे-धीरे मलने लगी। क्षीण आपत्ति के बाद असित ने सोहिनी के हाथों अपने को समर्पित कर दिया।

"क्यों, दर्द कुछ कम हुआ ?"—और दूसरे ही पल असित के मुँह पर लिपटी उस छली हँसी को देखकर वह झुँझला उठी "-सब झूठ है, न सिर में दर्द है न कुछ।"

उसे जाते देखकर असित द्वार रोक कर खड़ा हो गया। अब बारी थी सोहनी के रूठने की।

रविवार का दिन था, असित चरखे के साथ छुट्टी मना रहा था, द्विपहर की उदास वेला ढ़ल चुकी थी ? सो तब पहुँच गई सोहिनी। लाल चुनरी का आँचल सँभालती हुई। दिन भर की उसकी अनुपस्थिति के लिये असित अन्तर ही अन्तर में उष्ण हो रहा था।

उसे बनाव-शृंगार कर आते देखकर न जाने क्यों अकारण ही वह उत्तप्त हो उठा—"चरखे की भनभनाहत सुनकर क्या करोगी ? जाओ, आईने के सामने बैठी पाउडर, क्रीम लगाती रहो। साज-शृंगार से जब फुरसत ही नहीं मिलती, तब इस भारत-क्लब में भाग लेने की जरुरत ही क्या थी ? भारत माता की पूजा-पाठ से भला तुम्हें क्या मतलब ? तुम सज-सजाकर रंगीन फूल बनी घूमा करो।"

सोहिनी को स्मरण हो आया—आज पूर्णिमा की रात्रि में भारत माँ की पूजा होने को है और पूजन का वृहत् आयोजन करना है।

उसने आँख उठा कर देखा कमरे में फूल, बेलपत्र, धूप-दीप, धान की हरी बालें, अगर-चन्दन, सिन्दुर आदि सब अव्यवस्थित पड़े सूख रहे हैं। सिन्दुर का बण्डल बिखरा पड़ा है, महावर की शीशी टूटी पड़ी है।

देख-सुनकर उसे भी क्रोध हो आया, ज़िद्दी, हठी बालिका सी बोली—"क्या मैंने ही सब कुछ का ठेका लिया है? तुम दिन-भर क्या कर रहे थे?"—ज़रा ठहर कर वह पुनः कह चली—"सारे दिन मैं कपास के पेड़ों को ताकूँ, गुरुजी के लिये भोजन बनाऊँ, दादा को पेपर पढ़कर सुनाऊँ। और यह बैठे चरखा काता करें, अब तक कुछ भी न किया। अभी धान-जासौन के मुकुट, कुण्डल, फूलों के हार बनाने से लेकर चन्दन घिसना तक बाकी है। तीन-चार घण्टे के भीतर इतना सब अकेला कोई कर भी सकता है? और उधर बस चरखा कातना और किसी के काजल, टिकली, पाउडर को निहारना—" कहते कहते उस की दृष्टि पड़ गई असित के घुमड़े हुए बादल जैसे मुख के प्रति। और तब वह समझी कि असित के क्रोध को वह किसी सीमा तक पहुँचा चुकी है।

कुछ देर वह चुपकी खड़ी रही, फिर भीतर के कमरे में पहुँच कर फूल-पत्तों को सँभालने लगी।

"यह सब तुम मत छुओ।"

उस गंभीर स्वर को सुनकर अन्तःकरण में वह डर गई। किन्तु भाव को मुख पर प्रकाशित न कर वह बिथरे हुए सिन्दुर को सँभालने लगी।

"जाओ सोहिनी।"

न सुनने का भान करती—वह अपने काम में मग्न हो रही।

"मैं कह रहा हूँ—तुम जाओ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुम्हारे हाथ की पूजा देवी अब नहीं सकती हैं।"

उसे भी जिद्द आगई, रूठकर बोली—"नहीं जाऊँगी।"

"तो लो।"—टोकरी भर फूल उठाकर असित ने उस सिर में उढ़ेल दिया।—"लो देवी के बदले तुम्हीं पहनो। दे तुम्हारे हाथ की पूजा नहीं ले सकती हैं। नहीं-नहीं।"—कह जाता था असित और क्षिप्र की भाँति पूजा-उपकरण उस फेंकता जाता था। धान की बालें, धूप–धूनी उस पर छि कर, ज़मीन से सिन्दुर को उसने हाथ में समेट लिया, सोहिनी की माँग में भर भर कर कहने लगा—"लो भरो, देवी के बदले इस सिन्दुर से तुम अपनी ही मांग भरो सोहिनी चुपचाप खड़ी उस अत्याचार को सहन करने लगी।

जब असित थक कर बैठ गया तब वह शान्त-मृदु स्वर बोली—"और कुछ बाकी है ? लो मैं बैठी हूँ। यदि कुछ

भी बाकी हो तो उसे भी कर डालो।" —सोहिनी वहाँ पर जम कर बैठ गई।

इतनी देर में असित अपने कार्य का अशोभनत्व समझ पाया। अपराधी की तरह कहने लगा—"सोहिनी, चिढ़ गई—क्यों ?"

"गुरुदेव के सामने ही इसका न्याय-विचार होगा। मैं भी देखूँगी किस तरह और किस वस्तु से देवी की पूजा करते हो।"

"क्यों, केवल भक्ति और निष्ठा से ;"

"अच्छी बात है, गुरुजी के सामने विचार हो जायगा।"

"गुरुजी कुछ अन्धे थोड़े ही हैं। वह अपनी आँखों देखेंगे, तुम्हारी मांग में सिन्दुर है या मेरी ?"

"यह भी जान जायँगे अपने हाथों मैंने सिन्दुर भरा है या तुमने।"

सहसा असित कौतुक से भर उठा—"और मांग में सिन्दुर भरने के बाद क्या होता है सो भी वह जान जायेंगे।"

इस बार अज्ञात भय से सोहिनी का मुँह सूख गया, शुष्क होकर पूछा—"क्या होता है ?"

"ऊँ-हूँ, मैं नहीं जानता।"

"कहो न।"—सोहिनी प्राय उससे लगकर बैठ गई।

गम्भीर बनकर असित ने कहा—"यह भी नहीं जानती ? दूल्हा-दुलहिन की मांग भरता है। आज से तुम—"।

"जाओ।"—कह कर सोहिनी भाग निकली।

"यह सब तुम मत छुओ।"

उस गंभीर स्वर को सुनकर अन्तःकरण में वह डर गई। किन्तु भाव को मुख पर प्रकाशित न कर वह बिथरे हुए सिन्दुर को सँभालने लगी।

"जाओ सोहिनी।"

न सुनने का भान करती—वह अपने काम में मग्न हो रही।

" मैं कह रहा हूँ—तुम जाओ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुम्हारे हाथ की पूजा देवी अब नहीं सकती हैं।"

उसे भी जिद्द आगई, रूठकर बोली—"नहीं जाऊँगी।"

"तो लो।"—टोकरी भर फूल उठाकर असित ने उस सिर में उढ़ेल दिया।—"लो देवी के बदले तुम्हीं पहनो। दे तुम्हारे हाथ की पूजा नहीं ले सकती हैं। नहीं-नहीं।"—कह जाता था असित और क्षिप्त की भाँति पूजा-उपकरण उस फेंकता जाता था। धान की बालें, धूप-धूनी उस पर छि कर, ज़मीन से सिन्दुर को उसने हाथ में समेट लिया, सोहिनी की माँग में भर भर कर कहने लगा—"लो भरो, देवी के बदले इस सिन्दुर से तुम अपनी ही मांग भरो सोहिनी चुपचाप खड़ी उस अत्याचार को सहन करने लगी।

जब असित थक कर बैठ गया तब वह शान्त-मृदु स्वर बोली—"और कुछ बाकी है ? लो मैं बैठी हूँ। यदि कुछ

भी बाकी हो तो उसे भी कर डालो।" –सोहिनी वहाँ पर जम कर बैठ गई।

इतनी देर में असित अपने कार्य का अशोभनत्व समझ पाया। अपराधी की तरह कहने लगा—"सोहिनी, चिढ़ गई—क्यों ?"

"गुरुदेव के सामने ही इसका न्याय-विचार होगा। मैं भी देखूँगी किस तरह और किस वस्तु से देवी की पूजा करते हो।"

"क्यों, केवल भक्ति और निष्ठा से।"

"अच्छी बात है, गुरुजी के सामने विचार हो जायगा।"

"गुरुजी कुछ अन्धे थोड़े ही हैं। वह अपनी आँखों देखेंगे, तुम्हारी मांग में सिन्दुर है या मेरी ?"

"यह भी जान जायँगे अपने हाथों मैंने सिन्दुर भरा है या तुमने।"

सहसा असित कौतुक से भर उठा—"और मांग में सिन्दुर भरने के बाद क्या होता है सो भी वह जान जायेंगे।"

इस बार अज्ञात भय से सोहिनी का मुँह सूख गया, शुष्क होकर पूछा—"क्या होता है ?"

"ऊँ-हूँ, मैं नहीं जानता।"

"कहो न।"—सोहिनी प्राय उससे लगकर बैठ गई।

गम्भीर बनकर असित ने कहा—"यह भी नहीं जानती ? दूल्हा-दुलहिन की मांग भरता है। आज से तुम—"।

"जाओ।"—कह कर सोहिनी भाग निकली।

उस दिन अर्द्धरात्रि में सोहिनी सोते से सहसा जाग पड़ी खिड़की के बाहर तब भी मृदु मृदु शब्द हो रहा था। कोई उसका नाम लेकर धीरे धीरे पुकार रहा था। उस स्वर को पहचानते ही सोहिनी उठी। द्वार खोल कर बाहर आई। अन्धकार में अपने को छिपाकर असित खड़ा था।

सोहिनी का हाथ पकड़ कर उसने अपनी ओर खींचा।

त्रस्त स्वर से सोहिनी बोली—"कल से तुम कहाँ थे ? मैं बहुत घबरा रही हूँ।"

"चुप-चुप।"—वह फुस-फुसाकर कहने लगा —"चुप-चुप, धीरे बोल, हमलोग भागे जा रहे हैं।"

"क्यों ? कहाँ और-कौन कौन ?"

"मैं और सुनील। वक्त नही है। यदि कल तक पहुँच सकें तो जहाज़ मिल जायगा।"

"भाग ही क्यों रहे हो ?"

"ज़रुरत पड़ गई है।"

"क्या बात है, साफ़ कहो।"

"हमारे क्लब के कुछ मेम्बर पकड़े गये हैं। हमारे नाम भी वारण्ट है।"

"वारण्ट है ही। सो ठीक जानते हो ?"

"शायद है। अच्छा तो।"

"नहीं, सुनो, मिनट भर ठहरो, जा कहाँ पर रहे हो ?"

"यूरोप। पहले गाँव जाना है, वहाँ से सुनील को लेकर तब जाऊँगा।"

"इतने पैसे कहाँ पाओगे।"

"सब हो जायगा। जहाज में ख़लासी का काम कर लेंगे। विदा सोहिनी।"

"जाओगे ही ?"–आँसूओं के नीचे सोहिनी दब-सी रही थी।

"फिर करें क्या ? और सुनो उस बगले में अब कोई न आवेगा। मकान मालिक पकड़े गये, शायद वह छूट जावें। तुम सावधानी से रहना। शहर के क्लब में जब जाओ तो बहुत ही सावधानी से जाया करना।"

चलते से असित लौटा—"तो सोहिनी—" उसका स्वर आद्रता से भर रहा था,—"भूलना नही। याद रखोगी न ?"

सोहिनी चुप रही।

"शायद लौटूँ। कौन जाने वह लौटना कब तक हो। उस दिन तक—"

"शायद मैं भूलूँ—" गर्व से तनी कहने लगी वह—"किन्तु उस दिन के मांग का यह सिन्दुर भूलने भी देगा, सोचते हो ?"

अन्धकार में सोहिनी का मुँह असित देख न पाया। जबतक वह कुछ कहने को हुआ तब उसे ज्ञात हुआ कि वह वहाँ पर अकेला ही है।

—:o:—

पद-चिह्न को बालू-कण में रखकर वर्ष के बाद वर्ष व्यतीत होते रहते। अर्द्धरात्रि का निपट एकाकीपन, पर्वत-गुहा का पुञ्जीभूत अन्धकार अमावस्या के तनु में व्याप रहा था। शहर का राजपथ जन-मानव-शून्य था। लाईट-पोस्टों के दीप-प्रकाश रक्त-छटा विकीर्ण कर रहे थे—मानों उस काजल-कोर रात्रि के ललाट पर कुमकुम की बिन्दियाँ लग रही हों। बन्द दूकान की सीढ़ियों पर कहीं कोई भिखारी सिमिट कर सो रहा था। कुत्तों का भौंकना एक आतंक की सृष्टि करता। और इन सब के परे प्रहरी की सीटी बीच बीच में ध्वनित हो उठती—तीक्ष्ण वाण-सी। गलियों में अन्धकार घनीभूत हो रहा था।

उस अन्धकार को भेदती, गलियों को पार करती हुई, झपटी चली जा रही थी एक अवगुण्ठनवती नारी।

कहीं कुछ शुबा होता वह कान लगाकर सुनती, कहीं कोई अस्पष्ट छाया सामने पड़ जाती वह चौंक उठती, कदाचित कल्पना-प्रसूत, कदाचित वास्तविक प्रेतिनी की चूड़ियों की झंकार वृक्षों के शाखा-पल्लवों में झंकृत सी होती और तब उस

का शरीर एक दम स्तम्भित हो जाता। धवनी, शिरा, उपशि-राएँ अचल हो जाती, रोम खड़े हो जाते। हृदय-स्पंदन रूद्ध-प्राय होता। वह आँखें बन्द कर लेती, पद अचल-प्राय होते। कुछ देर के बाद आँखें खोलती, अपने-आप को डाटती, समझाती, तब चल पड़ती, किन्तु फिर भी उसे डर लगता रहता, हृदय-श्वास द्रुत वेग से बहता, तो भी वह भागी चली जाती।

गलियों को पार करती हुई नारी एक रूद्ध द्वार पर खड़ी हो गई। मृदु मृदु कुछ संकेत करने लगी। द्वार खुला और उसी अन्धकार में एक अन्धकार के स्तर-सी वह उस में समा रही।

दालान कमरों को पार करती हुई जिस प्रशस्त प्रकोष्ट में वह पहुँचाई गई, उसमें उज्ज्वल-आलोक-प्रकाश था। अनेक मनुष्य थे। कुछ नारियाँ भी। तब वहाँ किसी विषय पर गम्भीर विचार किया जा रहा था। रमणी एक ओर बैठ गई। अवगुण्ठन मुक्त कर लिया।

किशोरी सोहिनी नहीं किन्तु लावण्यमयी-युवती सोहिनी ने अवगुण्ठन मुक्त करते हुए पूछा—"मुझे जल्दी घर लौटना है, दादा जी बीमार हैं, मुझ पर आज्ञा ?"—तब भी वह हाँफ रही थी।

"बहुत दिन के बाद देख रहा हूँ-तुम भी तो बीमार-सी दिख रही हो बहन।" एक प्रौढ़ व्यक्ति ने कहा।

"मैं अच्छी तो हूँ।"

"तुम्हारे दादा बीमार हैं ? उन्हें कौन-सो बीमारी है ?

"तपेदिक। मुझे आदेश ?"

"रुपयों के बिना क्लब का काम रुका हुआ है। तुम और नरेश, बस तुम्हीं दोनों की आर्थिक अवस्था अच्छी है। गुरुदेव का आदेश है–गये वक्त की तरह इसबार भी यह व्यय तुम्हीं दोनों को करना पड़ेगा। रुपयों के बिना काम अटका हुआ है।"

सोहिनी विचार में पड़ गई—पितृव्य उसके धनवान हैं सो ठीक है, सही है, परन्तु इतना धन उसके पास नहीं था जो कि अतिरिक्त व्यय करने पर भी न चुकने पावे। उधर उसने कई हज़ार कितनी ही बार इस मण्डली को दे दिये थे। इधर वर्षों की पितामह की बीमारी में हज़ारों खर्च हो गये। यहाँ तक कि गत बार अलंकर बेचकर उसने क्लब का काम चलाया था।

विचार में पड़ गई सोहिनी। जी में आया कहदे इस बार मकान बेचकर रुपये देने पड़ेंगे। और तो कुछ भी नहीं बच रहा है। नतमस्तक वह विचारने लगी, "दादा की पेन्शन भी बन्द हो जाने के बाद वह जायगी कहाँ ? करेगी क्या ? रहेगी कहाँ ? वृक्ष के नीचे ? भिखारी की तरह ? दादा की चिकित्सा का व्यय भी वह न करेगी, कैसे ?"

सो तब उन प्रश्नों का उत्तर भी जैसे मन के किसी एक कोने में बैठे हुए किसी ने दे दिया—"सो कापुरुष जैसी चिन्ता क्यों और कैसी ? क्या वह आदमी नहीं है ? क्या उसके मन में शक्ति नहीं है ? मेधा नहीं है ? क्या उसने शिक्षा नहीं पाई है ? एम.ए.

की डिग्रीधारिणी क्या अपना प्रतिपालन कर नहीं सकती है ?

परन्तु हृदय का दर्द, कर्मस्पृहा में ऐसी लांछि, ज्वर-तप्त यह ललाट और डाक्टरों का वह कथन—थायसिस का पूर्व लक्षण। तो ऐसे एक अवसन्न-अवसाद-ग्रस्त देह—मन को लेकर कहाँ जायगी वह ? ऐसा एक कीटदष्ट हृदय लेकर विश्व के कौन से काम में लग सकेगी वह ? सब कुछ को लुटाकर कौन से दारिद्र को वरने के लिये जा रही है वह ?"

और शायद जब वह कुछ कहने को हुई तब एक छाया पड़ गई उसकी दबी हुई आँखों के नीचे, अर्द्धरात्रि की सुशुप्ति, द्वार पर मृदु शब्द और उस निशीथ में—विदा मांगता हुआ एक किशोर का साहसी मुख एवं उसकी प्रिय मण्डली।

यह क्लब यह कार्य उसके प्राण से भी प्रिय है। वह-उसके वह—वर्षों से जिसकी छाया मात्र के दर्शन के लिये नेत्रद्वय लालायित तृष्णातुर से रहा करते हैं वह-उसके वह जो कि आज समुद्र के उस पार बैठे हुए न जाने अपनी कौन सी स्वाधीन चिन्ता को चरितार्थ करने की कठोर तपस्या में लीन हैं, जिन्हें कि काल के चक्रों ने उससे मीलों दूर पहुँचाकर भी उसके हृदय के एक दम समीप कर दिया है, जिन्हें कि दूरता के व्यवधान ही से शायद आज वह अन्तर के भीतर प्रतिष्ठित कर बैठी है, जिनका स्पर्श वह अहर्निश मन के प्राण में पाया करती है।

उसके वही वह—जिनके खेल खेल का कौतुक—वह सिन्दुर

की हलकी लकीर—आज वास्तव बन कर मांग के ऊपर रक्तबिन्दु सी चू पड़ रही है। और अन्तर के प्रवेश द्वार पर ही जो कि सूर्य की रक्ताभ छटा-सी जाग कर बैठ गई है। उसके एक ऐसे—उनकी यह मण्डली–जो कि उनके जीवन से भी प्रियतर है। और ऐसे एक की उपासिका वह आज क्या से क्या सोचने को बैठ गई है ? अपनी कौन सी स्वार्थी चिन्ता के भीतर भटकी मर रही है ? यदि वह मनुष्य है तो उसे चिंता किस बात की ? यदि उसके मन में शक्ति है, साहस है, निष्ठा है, तो वह अपनी विपरीत परिस्थितियों पर जय भी क्हों नही पा सकती ?

यदि वह आज समुद्र के उस पार बैठे हुए हैं और बैठ ही रहे आवें, तो रहा करें, किन्तु उनकी स्मृति तो आज उसके पास सदा–नवीन होकर है न, एवं उनके प्रिय कार्य सदा उसके लिये आदरणीय होकर हैं न ? फिर यह सोचना-विचारना कैसा और किस लिये ? उनकी वह आवाज़ कदाचित उसके रोम-कूपों ही में जिसे वह भर कर गये हैं, उसकी देन भी तो चुकानी है।

"माता सोहिनी, उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है यह सभा।" वृद्ध ने कहा।

सोहिनी ने सहम कर मुँह उठाया—"गुरु देव की आज्ञा की अवहेलना न होगी।"

"अच्छी बात है। हाँ, फिर रुपयों की प्रतीक्षा कब तक करनी पड़ेगी ?"

"मेरा अब आना कठिन है। शुकदेव को मेरे घर भेज दीजिये।"

"कब"

कुछ देर तक विचार कर वह बोली—"यही—परसों।"

"असित और सुनील की ख़बर मिली?"—एक ने दूसरे व्यक्ति से पूछा। सोहिनी उत्कीर्ण होकर प्रश्न-उत्तर को मानो निगलने ही लगी।

"इन आठ—नौ वर्षों के भीतर उसने एक पत्र तक न लिखा। ऐसों की ख़बर की इस मण्डली को ज़रूरत भी क्या है?"

"वह तो उन दोनों के लड़कपन की उमंग थी। देश-सेवा का तब स्वांग रच बैठे थे। ज्वार एक समय आया और दूसरे समय में निकल गया, बस।"

"उस दिन रथीन विलायत से लौटा है, कह रहा था असित उन्माद-चिकित्सा का विख्यात विशेषज्ञ बन रहा है।"—चतुर्थ व्यक्ति ने कहा।

जाने दो ऐसे बेईमानों की चर्चा यहाँ मत करो।"—शब्द क्लब के प्रधान के थे।

कुछ कहने के लिये सोहिनी अधीर होने लगी। कहना चाहने लगी—"यह सब झूठ है, सब तुम्हारी कल्पित कलपना है, वैसा एकनिष्ट साधक कभी विश्वासघात नहीं कर सकता है। किसी अनिवार्य कारण से उन्हें ऐसा करना पड़ गया होगा। जिस

किशोर के मन में देश का प्रेम अग्नि-स्फुलिंग की तरह विकीर्ण था, वह प्रेम युवक के मन में प्रौढत्त्व पाकर गम्भीर नहीं होगा ऐसा भी कौन कह सकता है ?

यह मिथ्या दोषारोपण है, अन्याय की कटु उक्ति है, उस साधक के लिये। किन्तु फिर भी वह कुछ कह न सकी। किसी को अभिवादन किए बिना ही उठी और उस अन्धकार में निशाचरी की भाँति सम्भाहित हो गई।

—:o:—

टेबुल पर रखी घड़ी एक आवेष्टनी में बँधी बँधी टिक-टिकाया करती है, नियत समय पर, मिनट—घण्टों पर एक निर्द्धारित नियम से काँटे पहुँचते हैं और तब मृदु शब्द कर वह कह देती है—घड़ी—घण्टों—पलों को, और फिर अपनी धुन में टिकटिकाने लगती, जैसे उस परिधि के बाहर जाना उसके लिए अनधिकार चेष्टा हो, दिन रात के चौबीसों घण्टों को बन्धनी में बँधी वह जताया करती—उसमें दम भरने वालों को। एक कृतज्ञता-प्रकाश ही की तरह। उससे अधिक कुछ करना, कहना उसकी सीमित शक्ति के बाहर की बात होती। परन्तु उन चौबीसों घण्टों का समूचा दिन रात जब अनेक संख्याओं में एकत्रित हो जाता, तब वर्ष के विराट रूप में परिणत होता—बन्धनी-मुक्त विराट रूप में। सो कदाचित इसी से वह बन्धनी-मुक्त वर्ष विश्व का एक होकर रहता—अपने विराट रूप को सँभार—सजोर कर।

सो प्राच्य के गत नौ वर्ष, पाश्चात्य के भी गत नौ वर्ष को लाँघकर दसम में उपस्थित होने को हुए। उसी नवम के अन्तिम किन्तु प्रथम प्रभात में भारत के कोई जन-मानव-हीन शून्य

अट्टालिका के एकाकी कमरे में पड़ी पड़ी एक नारी अपने ज्वर तप्त श्वास को हृदय ही में समा लेना चाहने लगी । हृदय की व्यथित यन्त्रणा को जबरन अस्वीकार करना चाहने लगी, तब लण्डन नगरी के जन-बहुल पथ में खुशी में मस्ताना-सा युवक असित झूम-झूम कर चलने लगता—बाल्य मित्र सुनील के कन्धे पर हाथ रखकर।

नौ और दस वर्ष एक युग ही सा तो था, पलभर के भूकम्प में यदि देश का देश निश्चिह्न हो जा सकता है तो उन दीर्घ वर्षों में यदि असम्भव भी सम्भव बन बैठा हो, तो इसमें विस्मय की बात कौनसी है ? यदि धनी कङ्गाल बन गया हो और भिखारी धनी; यदि मूर्ख विद्वान बन गया हो, बालक-युवा, यदि युवक वृद्ध बन गया हो और वृद्धस्थ वीर, —और यदि वह भारत वर्ष का दरिद्र किशोर आज पाश्चात्य का एक उन्माद विशेषज्ञ बन गया हो, यदि उसके यश, ख्याति से विश्व पूर्ण हो, यदि वह धन का प्रभु बन गया हो, तो इसमें असम्भव, अविश्वास का स्थान ही क्यों और कैसे हो सकता है ?

प्रकृति की तूलिका में नित नवीन सूझ, सृष्टि की चित्रकारी पनपती है । विश्व-मानव के मन में नित्य नवीन परिवर्तन हुआ करता है। कीट की काया तितली में परिवर्तित होती है। कौन इसकी खबर रखे।

एक छोटी स्मृति कभी धरोहर बनकर आती है, कभी विस्मृति के अतल में घर कर लेती है । कोई छोटी घटना, कोई

तुच्छ बात कभी जीवन में प्रधान बन जाती है। कभी वही अवहेलना से बह जाती है। फिर इसकी भी कथा कौन सुने ?

यदि विश्व-सृष्टि में कोई असीमता है, कोई विचित्रता है, तो रहा करे, किन्तु मानव-चित्त भी उन दोनों का अधिकारी नहीं है, ऐसा भी कौन कह सकता है ? यदि भारत के किसी कोने में बैठी उस नारी ने, उस सोहिनी ने उस विचित्रता को उस असीमता को अपना लिया हो तो विस्मय नहीं।

इस बार की एक तुच्छ घटना समुन्दर पार उस कर्म-कोलाहल-पूर्ण विचित्र नगरी में यदि गवेषक असित के वर तुच्छता में लीन हो भी गई हो, तो उसे दोष भी दिया जावे कैसे ? जो कि ज़िन्दगी को पाने के लिए अपनी ज़िन्दगी की होड़ लगाकर बैठा हो उसे कोसा भी जाये कैसे ?

दीर्घ दिन का श्रम, एकनिष्ठ गवेषणा, धैर्य असित का सार्थक था। विख्यात उन्माद-विशेषज्ञ के यश-गान से विश्व पूर्ण था। वैज्ञानिक की पोथी सँभारे—सँभारे सुनील मित्र गर्व से फूला न समाया। अर्थ, मान-प्रतिष्ठा के उच्च सिंहासनारूढ़ असित गवेषणा के सूक्ष्म तथ्य को निचोड़ कर सामने लाना चाहता, वह मौत को जीतना चाहता, विश्व को मृत लोक नहीं, किन्तु जीवित लोक कहलवाना चाहता।

सो भारत की सूनी कोठरी में पड़ी सोहनी अपने साथी-हीन, कीट-दृष्ट हृदय की कथा को तब हृदय में समा लेना चाहती।

मध्य रात्रि का व्यथित श्वास, टेबिल पर रखी घड़ी का एक ही सा स्वर टिक-टिक-टिक उस सुदृश्य कमरे में तब भी अतीत का गौरव-चिह्न विद्यमान था। चिन्ह ?–हाँ, चिन्ह मात्र। वास्तविकता के नाम पर पुस्तकों का ढेर संगमरमर के फ़र्श पर टेबिल-चेयरों का चिह्न-ज़मीन पर था मात्र। टेबिल, चेयर, सोफ़े कब जा चुके थे। पलंग के पहियों का चिन्ह श्वेत मार्बल पर काले-काले धब्बे से पड़े हुए थे। पियानो का सिल्क का ढक्कन एक कोने में पड़ा हुआ था। उस वर्ष का केलेण्डर दीवाल पर झूल रहा था। दीवाल पर कीलें लगी हुई थीं, चित्रों के स्थान पर थे मकड़ी के जाले, गद्दे-तकियों का स्तूप बीच में था। अलमारी के स्थान में साड़ी–बलाउज आदि ढेर लगे पड़े थे और उसी आवर्जना पूर्ण गृह के कोने में पड़ी सोहिनी ज्वर-तप्त श्वास को छाती में सम्हाल लेना चाह रही थी।

हाँ, सो उस दिन वह कंगालिन थी, यथा-सर्वस्व लगा कर दादाजी की चिकित्सा करवाई–सेनेटोरियम से लेकर घर तक और मांग पूरी करती गई वह अपनी मण्डली की। अन्त में आवास-गृह बन्धक रखकर उसने मण्डली का अभाव पूरा किया दूसरे घरों को बेचकर दादा का इलाज करवाया। अपने लिए सोचना ? किन्तु उतना समय और अवकाश कहाँ था उसे ? फिर रुचि भी तो न रही न। फिर जरुरत भी क्या है क्या वह आदमी नहीं है ? क्या उसके मन में बाहों में ताकत नहीं है ? क्या वह अपने को पाल नहीं सकती है ? नहीं भी

कैसे ? यदि उसे थायसिस हो भी गया हो तो हानि क्या है ? थायसिस के उन कीटों में ऐसी शक्ति कहाँ–जो कि मानव-शक्ति पर जय पा सके ? आज रात्रि भर के लिए इस घर की स्वामिनी है वह। कल यह घर-द्वार, उसके यह बाल्य काल का हास्य-विनोद, क्रीड़ा-रोदन, सुख-दुख का निकेतन दूसरे का हो जायगा तो हुआ करे, डर किस बात का है ? स्थानीय कालेज में वह नौकरी के लिए आवेदन कर चुकी है। स्वावलम्बी होकर वह दुनियाँ में रहेगी, इससे अधिक उसे चाहिए भी क्या ?

उसके दादा ? हाँ, इतने पर भी वह उन्हें न रख सकी, एक दिन मौत उसके सिरहाने आकर खड़ी हो ही गई। उस दिन उसने सोच लिया था कि उसके लिए सब कुछ का निपटारा होगया। किन्तु नहीं, दूसरे दिन पाया उसने कुछ का भी निपटारा नहीं हुआ, और न कभी होने का है। हानि ही क्या है ? मुट्ठीभर जगह, मुट्ठीभर वह, बस है तो इतना ही न, फिर हानि ही क्या है ? निकाला उसने सब असबाब को, डाला उन्हें बेच। फिर चुकाया उसने उन्हीं रुपयों से डाक्टरों का अवशिष्ट बिल। छुट्टी देदी सब नौकरों को। बन्द करदी अपनी दवा।

क्यों ? सो ज़रुरत भी क्या थी इसकी ? क्या अपने आप के लिए वह स्वयं यथेष्ट नहीं है ? क्या ज़रुरत है उसे दवा-पथ्य की ? मिल जायगी उसे नौकरी, चलावेगी वह मण्डली का ख़र्च, रख छोड़ेगी अपने लिए कुछ थोड़ा सा। ज़रुरत है क्या उसे ज़्यादा की ?

सोहिनी ने लाल नेत्र पसार कर घड़ी की ओर देखा—कुल दस मिनट हैं बारह बजने को। केवल पाँच घण्टे बाकी हैं। उन पाँच घण्टों के बाद मेरे सुख, दुख की अमिट स्मृतिरूप यह आवास, मेरा अपना यह गृह दूसरों का हो जायगा। मैं रहूँगी, मेरे मन के भीतर का यह प्राण—सहस्र स्मृतियों में जकड़ा हुआ यह प्राण—मेरा भी रहा आवेगा। तो भी रहेगा नहीं यह स्मृतियों के जाल में आवद्ध—मेरा ही यह घर।

जायगा ? तो जाने दो। जाकर ही वह रह आवेगा मेरा अपना होकर। उस नीरवता को भेद कर एक गंभीर किन्तु दर्द से भरा निनाद रात की निशुथी को चीरता उठ पड़ा। सोहिनी चौंकी। चकित दृष्टि उठाकर घड़ी के प्रति देखा—बारह पर दोनों काँटे थे। उस वर्ष के विदा-बेला की भेरी थी।

ध्वनि तब भी एक सी थी। सोहिनी छटपटा कर उठ बैठी। उन्मादिनी की भाँति दोनों बाँह बढ़ाकर जैसे उसे पकड़ने को दौड़ी। चला जायगा ? किन्तु मेरे जीवन के इस मूल्यवान प्रश्न को, समस्या को अधूरा रखकर तू कहाँ चला जायगा वर्ष ? और समस्या-पूर्ति की वेला में तू मुझे देकर क्या जा रहा है वर्ष ? इस दीर्घ जीवन की आय-व्यय और सञ्चय की पोथी को जब मैं मिलाकर देखना चाहने लगी शायद जाँचना भी चाहने लगी, तब कौनसा, कैसा विकट परिहास सूझा तुझे ?

चला ही जायगा तू वर्ष ? अपने दिन घड़ी, पल, मिनटों में अपनी सत्ता को मिलाकर खेल खेलने की साथिन को छोड़

कर चला ही जायगा तू मित्र ? मित्र ? मित्र भी कैसे नहीं ? तेरे विशाल हृदय में मेरी कितनी कहानियाँ इंगुर लिखी-सी लिपि-बद्ध नहीं है क्या ? लौटकर भी न देखना चाहेगा वर्ष ?

धीरे धीरे वह ध्वनि वायु-तरंग में विलीन हो रही। उसने चकित नेत्र उठाए घड़ी के काँटे के प्रति। बड़ा काँटा बारह पर से हट चुका था—जैसे उसका परिहास कर, उसके रोदन की उपेक्षा कर।

वह हँसी—वह निर्मोही चला गया तो जाने दो। किन्तु मैं तो हूँ, रही आऊँगी मैं उसकी चाह ताज़ा रखने के लिए। पल-पल में सोहिनी सहमी। उस वर्ष का कैलेण्डर तब भी दीवाल पर लटक रहा था। उसे उतार कर उसने बड़े प्रेम से अपनी गोद पर रख लिया। फिर बक्स खोलकर उसमें उसे रखना चाहने लगी, और तभी-तभी वह खिलखिला कर हँस पड़ी—यह कैसा लड़कपन है ? कैसा है यह मोह। कैसी है यह कमज़ोरी ? स्मृति को ताज़ा रखने के लिए स्मारक को संजोर कर रखना, परन्तु कौनसी सार्थकता है इसमें ? यदि वास्तविक का कोई मूल्य है—मेरे इस हृदय में किसी स्मृति के लिए—तो उसकी गवाह, साक्षी रखने की ज़रूरत ? स्मारक चिन्ह की भी ज़रूरत नहीं। यदि वह स्मृति वास्तविक ही प्राणवन्त है, तो वह बिना स्मारक ही जीवित रही आवेगी। वरना हज़ार बाँधकर रखने पर भी एक दिन वह विनाश होकर ही रहेगी। स्मृति का साक्षी स्वरूप

उस स्मृति के चिन्ह को पूजने का स्वांग ? वह तो निरे कापुरुष की सूझ है।

सोहिनी ने पास से केलेण्डर को निकाला, फिर फाड़ कर फेंक दिया, घड़ी के प्रति देखा। तब भी तीन घड़ी रात बाकी थी। इन घण्टों के व्यतीत होने के साथ ही वह निराश्रय हो जायगी। सोहिनी खिन्न हँसी, फिर विस्तार पर निश्चिन्त आराम से सो रही।

—:o:—

वह दीर्घ दीर्घ वर्ष कहाँ से, कब और कैसे निकल गए थे सो कह सकना केवल कठिन ही नहीं; किन्तु असम्भव भी है। परन्तु इतना तो सही है कि उस एक दिन की खुशी दूसरे दिन के दुःख के निकट लजा चुकी थी। जैसे ज़िन्दगी के साथ व्यंग की होड़ लगी हुई थी। उन्मादालय के वातावरण में विश्व का हर्ष डूब मरा था। था नित-दिन का स्वप्निल सबेरा उस दर्द भरी आह में, जैसे एक व्यथित श्वास में, रूपान्तरित होरहा था। वहाँ के जीवन में भरी हुई थी उच्छृंखल खुशी और मचलता हुआ रोदन।

ग्रीष्म की सूर्य-किरण उस प्रातः की बेला ही में ज्वालामुखी के उदगार भर उठी थी। उसी एक वेला में मूल्यवान कार आकर लौह-द्वार पर रुकी। द्वार पर उपविष्ट दरबानने नितकी भाँति उठकर अभिवादन किया। कार से सुनील उतरा और उन्मादालय के उद्यान को पार करता दालान की सीढ़ियों पर पहुँचा। दालान में सिगार पीता हुआ टहल रहा था असित उन्मा-दालय का अधिकारी, उन्माद-विशेषज्ञ-डाक्टर असित "सुप्रभात, सुप्रभात"। मुसकरा कर एक ने दूसरे का स्वागत किया।

दोनों ही सूटेड-बूटेड, दोनों ही उत्फुल्ल मुख। विभिन्नता थी शारीरिक गठन में। असित दुबला प्रतिभा-दिप्त, आयत लोचन गौरवर्ण। परिहित वस्त्र में कोई परिपाटी, कोई सामञ्जस्य नहीं, सौष्ठव, मेल नहीं; कोट की आस्तीन कुछ फटी हुई जूतों पर धूल।

सुनील लम्बा-चौड़ा, श्याम रंग, आँखों में स्वाभाविक सरलता, किन्तु बुद्धि पूर्ण। परिहित वसन में मेल, शृंखला, यत्न का लक्षण, मुख की रेखाएँ दृढ़ प्रतिज्ञा-व्यञ्जक।

"तुम्हारा ही रास्ता देखता था सुनील, इतनी देर क्यों लगादी ? घर में है भी कौन ? छोटा बँगला, पुस्तकों का ढेर, छोटा सा नौकर, बस इतना ही न। वही तो कहता हूँ, तुम यहीं आकर क्यों न रहो। सुन रहे हो ?"

उस दीर्घ वक्तव्य के उत्तर में सुनील ने ज़रा सा हँस दिया –"तुम्हारे जैसे अस्थिर चित्त के आदमी के साथ मैं भी पागल बना बैठा रहूँ ?"

"स्थिर और अस्थिर चित्त; आख़िर है भी क्या ?"

सुनील ने हेट उतार कर खूँटी से लटका दिया। दोनों चेयर पर बैठ गये।

फिर सिगरेट निकाल कर पीता हुआ वह बोला–"लड़कपन बीता खेत खलियानों में, तोते-लाल मुनियों के पीछे। तब पक्षी के विषय में जानकारी की धुन में पागल रहे तुम असित। फिर किशोर असित बन गया देशभक्त। स्वराज पाने के लिए बावला,

फिर सूझी पागलों के बीच में स्वयं पागल बनना । हम दोनों पहुँचे बिलायत, लक्ष रहा एक ही—विज्ञान की जानकारी । उस दिशा में पूर्ण सफलता मिली । जो कि एक दिन कल्पनातीत था, जब वही बन गया वास्तव, तब चकित रह जाना पड़ा । सो आज ? स्वनाम धन्य डाक्टर असित के पागलख़ाने में हज़ारों उन्मादी जगह पा सकते हैं। पचासों आदमी काम कर रहे हैं। एक विराट रूप विपुल शक्ति का चमत्कार देखकर दुनियाँ जब चकित–त्रस्त हुई तब पहुँची एक नवीन किन्तु लड़कपन से भरी सूझ—मौत को जीतना ।"

"ऐसा ? तो यह सूझ लड़कपन ही है ?"

"शुरू से आख़िर तक केवल लड़कपन और उत्क्षिप्त चित्त की सूझ । अपने साहस, शक्ति को लेकर आँख-मिचौनी खेलना, खेलना, छिन्न भिन्न कर उसे पचासों में बाँटना । परिणाम में मिलेगा ही क्या ? वही अधूरापन । "

"अधूरापन ?"—असित हँस रहा था ।

"वही ही । किसी एक वस्तु की गवेषणा का आदि नहीं, अन्त नहीं । शेष, निःशेष नहीं । तब उसी गवेषणा को लेकर दसों में बाँटना कैसा ? किसी भी एक बात पर विषय पर विचार पक्का कर लो, जिन्दगी उसी की गवेषणा में बिता दो, अन्त में जो निचोड़ तुम निकालोगे-दुनिया की भलाई के लिए, वही बन जावेगी सृष्टि । अपनी चिन्ता की उपज को बेचना नहीं चाहते हो ठीक है । विलायत में मिले हुए उच्च पद को ठुकरा

आए, सो भी ग़लत नहीं है। चिन्ता को सीमित करना नहीं चाहते हो। अच्छी बात है, परन्तु उस चिन्ता को एक सूत में तो रहने दो, कहो, चुप क्यों हो?"

"कहूँ क्या? चिढ़ते भो तो हो भाई।"

"पूरी ज़िन्दगी तुम्हारे पीछे हैरान रहा। इस लड़कपन का भी अन्त है?"

"और यदि मैं कहूँ—मेरे विचार की नींव वह एक ही है।"—मृदु-मृदु हँस रहा था असित, कह चला—"देख रहे हो—स्वाधीन चिन्ता को उपयोग में लाने की चेष्टा कर रहा हूँ, चेष्टा ही समझो। इससे पहले वह चिन्ता सीमित थी—देश स्वाधीनता की परिधि में। अब यदि वह विश्व की एक होना चाहे, मौत को जीत सकने की रीति को खोज निकालना चाहे, तो हानि भी क्या है? आदमी की खुली आँखों के सामने विश्व का विनाश, मृत्यु का ताण्डव नृत्य जब खुल जाता है, तब इसी विश्व का जीव उस विनाश की पूर्ति में, सृष्टि-रक्षा की धुन में बावला हो जाता है। है यह प्रकृति का नियम, स्वभाव। विश्व के रण-प्राङ्गण में जब कि रक्त को लेकर फगुआ की धूम मची हुई है, तब यदि उस मृत्यु से कुछ एक को भी बचाने की चेष्टा की जावे, तो निन्दनीय भी कैसे? शुभ चेष्टा मात्र ही महत है। है न यही? हाँ, रास्ता वह एक ही है।"

"अच्छी बात है। उसी अलैया के पीछे भटकते फिरो।"

अनुतप्त, शान्त स्वर से कहने लगा असित—"मौत जीतने

की गवेषणा इसी उन्माद-गवेषणा के ही अङ्गीभूत समझता हूँ मैं, पहली सीढ़ी है उन्माद को स्वस्थ करना, दूसरी है मौत को जीतना।"

"तो मौत को जीतने के लिए कोई दूसरा महल भी तैय्यार हो रहा है ?"

"क्या ज़रूरत है ? इसी पागलखाने में एक हाल सुरक्षित कर रखा है। रात का समय मेरा उसी में कटता है। दिन को पागलों को देखता हूँ।"

"केवल एक्सपेरिमेन्ट मात्र विछिन्न विचार।"

असित चुपचाप हँसने लगा।

"अब यह कहो कि मुझे सवेरे से बुला क्यों भेजा है ?"

"पागलों के साथ पागल बनने के लिए।"

"आख़िर बात क्या है ?"

"मेरे साथ चलो, अभी पता चल जायगा।"

दोनों चल पड़े।

—:o:—

(८)

बृहत लौह गेट और छड़-दीवारी से घिरा प्रकाण्ड उम्माद-लय, सामने पुष्प-उद्यान, पीछे फल का उद्यान, छड़-दीवारी के चहुँ ओर चम्पा, नीम, पीपल आदि के ऊँचे वृक्षों की श्रेणी इन सब के मध्य में तपोवन की तरह द्वितल गृह, बृहत बृहत द्वार वातायन, मकान के दाहिने और बाई ओर अनेक क्वाटर और रन्धन शाला इत्यादि, पुष्प-उद्यान से चलकर सीढ़ियाँ, सामने द्वार-युक्त दालान, दालान को पार कर कई बृहत हाल। उसके बाद पुनः दालान, मध्य में प्रशस्त आङ्गन, आङ्गन के चहुँ ओर सीढ़ियाँ, सामने फिर कमरों की श्रेणी। कोई हाल कोच सोफे से सज्जित, कोई खाली, उसके बाद डिसपेन्सरी, काँच की अलमारियाँ, दवा की शीशी से पूर्ण।

द्वितल में रहता असित। दो खुले हुए प्रकाण्ड छत। दो हाल। बड़े बड़े कई कमरे, दालान, हाल में सुन्दर-सुदृश्य पुस्तकों की लाईब्रेरी, दूसरे में काँच के बड़े बड़े जारों में नानावर्ण के कीट, विचित्र यन्त्रादि नानाविध औषधिपूर्ण अलमारियाँ, हाल में निम्नतल से लगा हुआ एक अद्भुत यन्त्र।

असित के साथ सुनील भीतर की दालान में पहुँचा। आँगन की सीढ़ियों पर कुछ उन्मादिनी बैठी बक रही थीं। आँगन और दालानों में कुछ उन्माद तथा उन्मादिनी इतस्ततः विचरण कर रहे थे, द्वार को पकड़े झूमती हुई उच्च हास्य कर रही थी कोई, कोई चीतकार करता। कोई अपने ही बालों को नोचने में लगा था, कोई मौन, उर्द्धमुख से ऐसा बैठा था—जैसे योगाभ्यास में हो। कोई अर्द्धनग्न अवस्था में अपने शरीर को छिन्न-भिन्न करने में लगी थी। नर्स गण उन सबों को सँभालती फिर रही थी। असित का सहकारी फल के उद्यान में कुछ पागलों को लेकर घूम रहा था।

असित के घर सुनील प्रायः आया करता सो ठीक था; परन्तु प्रातः की बेला में, उन्मादों के एक वैसे मेले में आना वह प्रथम बार ही था।

नित-प्रतिदिन प्रातः बेला में पागलों को उनके अवाध-गति-विधि पर उन्हें छोड़ दिया जाता, केवल दूर से नर्सगण उनकी देख-भाल किया करतीं।

उस दृश्य के सामने हटात पहुँच कर सुनील विमूढ़ हो रहा। नित-नवीन विषय, घटनाओं से परिचित होते होते जीवन के दीर्घ दिन कट चुके थे। किन्तु फिर भी उसे लगा—ऐसे विराट विस्मय से कभी भी उसका परिचय हुआ नहीं।

"ज़िन्दगी का यह कैसा परिहास तुमने इकट्ठा कर रखा है असित ?"

"क्यों कर रखा है ? उस परिहास से परिचित होने के लिए उसे जीतने के लिए।"

"अच्छी बात है। और मुझे करना क्या है ?"

"वस वही।"

"क्या ?"

"इनके साथ पागल बनना।" असित परिहास से मचल रहा था।

"मुझे ऐसा शौक नहीं है।"—सुनील झल्ला पड़ा।

"हाँ वही करना है, तुम्हीं को।"

"ज़बरदस्ती ? मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं पागल बनूँ ?"

"करना है सो वह भी मेरे लिए।"

आकुल विस्मय से सुनील ने असित के प्रति देखा और देखता ही रह गया।

आगत हास्य को दबा कर असित गाम्भीर्य से भर उठा "पागल ? नहीं। यदि अबतक मैं पागल नहीं बन गया हूँ तो तुम भी नहीं बनोगे। समझे न ? तुम को कुछ वक्त पागलों का साथ देना ही है।

"मुझे ?"

"तुम्हीं को।"

"आख़िर क्यों ?"

"तुम यहाँ बैठ कर बेला के साथ अपने सधे हुए स्वर से एक गाना गा दो, वस।"

"यहाँ ? और गाना ?"

"वही ही।"

"गाऊँ–इन पागलों के साथ बैठकर गाऊँ ?"

"हाँ। इसे केवल एक एक्सपेरीमेन्ट समझो।"

"आख़िर तुम कहना क्या चाहते हो ?"

"यही कि तुम गा दो।"

"गाऊँ ?"

"हाँ हाँ हाँ, मुझे आशा है, धीरे धीरे गाने का प्रभाव इन पर पड़ेगा। शायद गाने से इन्हें अधिक लाभ हो जावे। यही नहीं। मुझे विश्वास है–उन्माद के विकृत, पङ्ग शिराओं पर गाने का स्वर अपना प्रभाव विस्तार करेगा। वह देखो वायलिन मैंने ख़रीद कर रख लिया है।"

सुनील के कुछ कहने से पहले ही वायलिन उसके हाथ पर आ गया। दो आराम-कुर्सियाँ पहुँच गईं। उस पर वे दोनों बैठ गए।

कहने लगा सुनील—"तुम्हारा कहना मैं टाल नहीं सकता हूँ, वैसे तो यह भी जानते हो कि मुद्दत हुए मुझे संगीत-चर्चा को छोड़े।"

"हानि नहीं, तुम जैसे संगीतज्ञ के लिए दस-पाँच वर्ष गान-वाद्य को छोड़ना कोई बात नहीं, फिर जो कुछ बचा रहता है, उसकी भी तुलना कहाँ ? इन पागलों के लिए शायद उतना ही यथेष्ट होगा। शुरू करो।"

"अच्छी बात है, किन्तु इस गगन-भेदी चीत्कार में गाना सुनेगा भी कौ ?"

"तुम अपना काम करो न, यार, कितना फिजूल बकते हो।"

और तब सुनील ने सुर-तान से युक्त भैरवी रागिनी को शुरू कर दिया। गान जब पूर्ण ग्राम में पहुँचा, तब सविस्मय सुनील ने देखा उस उन्मादालय की उच्छृंखल उन्मत्तता पर जैसे पल भर में श्रृंखलता ने जय पाली है। एक समय सुनील ने आँख उठाकर देखा उसके चहुँ ओर पागलों की मूक भीड़ लगी हुई है। गान समाप्त कर सुनील ने वेला टेविल पर रख दिया। भीड़ वैसी ही शान्त स्थिर रह गई।

चलते-चलते सुनील ने कहा—"शायद तुम ठीक रास्ते पर हो ?"

"और उस रास्ते पर मुझे चलते रहने के लिए दार्शनिक सुनील की ज़रूरत है।"

"ऐसा ! तो वह हाज़िर भी है।"

खुशी से सुनील की पीठ ठोक कर असित ने कहा "सच ?"

"सच नहीं तो क्या झूठ।"

"तो समय यही प्रातःकाल का रहेगा।"

"क्या रोज़ ?"

"यदि तुम्हें अड़चन हो तो रोज़ नहीं। फिर कितने दिनों में ?"

ज़रा सोच कर सुनील ने कहा—"यदि हफ़्ते में एक दिन आऊँ ?"

"अच्छी बात है। कौन से दिन तुम्हें सुविधा होगी ?"

"यही रविवार को।"

तब असित से विदा लेकर सुनील कार पर बैठा। कार चल पड़ी और प्रसन्नता से भरा-भरा असित उन्मादालय के अन्दर लौटा।

—:o:—

मैं एक ऐसी सुन्दर लड़की को चाहता हूं जो मेरी जिन्दगी का साथ दे

"अच्छी बात है, किन्तु इस गगन-भेदी चीत्कार में गाना नसुनेगा भी कौ ?"

"तुम अपना काम करो न, यार, कितना फिजूल बकते हो।"

और तब सुनील ने सुर-तान से युक्त भैरवी रागिनी को शुरू कर दिया। गान जब पूर्ण ग्राम में पहुँचा, तब सविस्मय सुनील ने देखा उस उन्मादालय की उच्छृंखल उन्मत्तता पर जैसे पल भर में शृंखलता ने जय पाली है। एक समय सुनील ने आँख उठाकर देखा उसके चहुँ ओर पागलों की मूक भीड़ लगी हुई है। गान समाप्त कर सुनील ने वेला टेविल पर रख दिया। भीड़ वैसी ही शान्त स्थिर रह गई।

चलते-चलते सुनील ने कहा—"शायद तुम ठीक रास्ते पर हो ?"

"और उस रास्ते पर मुझे चलते रहने के लिए दार्शनिक सुनील की ज़रूरत है।"

"ऐसा ! तो वह हाज़िर भी है।"

खुशी से सुनील की पीठ ठोक कर असित ने कहा "सच ?"

"सच नहीं तो क्या झूठ।"

"तो समय यही प्रातःकाल का रहेगा।"

"क्या रोज़ ?"

"यदि तुम्हें अड़चन हो तो रोज़ नहीं। फिर कितने दिनों में ?"

ज़रा सोच कर सुनील ने कहा—"यदि हफ़्ते में एक दिन आऊँ?"

"अच्छी बात है। कौन से दिन तुम्हें सुविधा होगी?"

"यही रविवार को।"

तब असित से विदा लेकर सुनील कार पर बैठा। कार चल पड़ी और प्रसन्नता से भरा-भरा असित उन्मादालय के अन्दर लौटा।

—:o:—

मैं एक ऐसी सुन्दर लड़की को चाहता हूँ जो मेरी जिन्दगी का साथ दे

(६)

वसन्त के श्वास में कुमकुम की आभा भर चुकी थी। केसर की गन्ध लिपट चुकी थी—वृक्ष-लता के तनुमें और कोकिला के स्वर में विश्वका यौवन बूँद-बूँद कर चू-रहा था—उसी विश्व के आङ्गन में।

वसन्त की फूलीसी दोपहरी चमक रही थी। उस सुउच्च महिला कालेज के वृहत हालों में, प्रकोष्टों में, द्वितल के हाल में उपविष्ट सोहिनी छात्राओं को पढ़ा रही थी। अध्यापिकाओं में वह सर्व कनिष्ट थीं एवं नवागुन्तका भी। नौकरी करते उसे कुछ महिने व्यतीत हुए होंगे। कालेज कम्पाएड में उसे एक क्वार्टर मिल गया था। एक बँगला—प्रिन्सपाल से कुछ हटकर।

ग्रह-परिजन-हीन इस जीवन में भी वह सन्तुष्ट सी दीखती। ज्वर का अवसाद कभी उसे आच्छन्नता में समा लेना चाहता। चित्त कभी गत ऐश्वर्य, सुख-सामान की ओर भटक पड़ता। वह भ्रकुटि तानती; दन्तद्वारा ओष्ट दबाती, और तब सब कुछ को अस्वीकार कर वर्तमान की एक कर्मरत, अध्यवसायी अध्यापिका बनी रही आती। प्रातःकाल उठती, स्नान कर कुछ थोड़ासा पढ़ती,

भोजन बनाती, भोजन कर फिर कालेज में पहुँच जाती। अपने लिए यत् सामान्य व्यय कर बाकी सब बचा रखती मण्डली के लिए। और फिर कभी रात्रि में सब की दृष्टि बचाकर मण्डली की मीटिंग में पहुँच जाती। कभी वक्तृता के मञ्चपर आरूढ़ होती।

सो वसन्त का मृदु पवन घनीभूत सन्ध्या में यदि जबरन कभी सोहिनी की देहरी पर धरना देकर बैठ भी जाता, तो वह हृदयहीन की भाँति उसे पैर तले रौंधती, उसकी पहुँच के बाहर निकल जाती।

पढ़ा रही थी सोहिनी, रात्रि-जागरण-हेतु रक्ताभ स्फीत नेत्रों को छात्राओं पर आवद्ध किए। कल मण्डली से लौटते उसे अधिक रात्रि हो गई थी, सो तब कालेज के चपरासी की शुभ्र पगड़ी द्वारपर दीख पड़ी। पत्र था! छात्रा ने चपरासी से पत्र लेकर सोहिनी के हाथ पर रख दिया, कालेज की प्रिन्सपाल का आह्वान था।

छात्राओं को प्रतीक्षा करने को कहकर सोहनी चल पड़ी। जब आफ़िस में पहुँची सोहिनी, तब प्रिन्सपाल उसी की प्रतीक्षा में बैठी हुई थी।

"मेडम—"

"आओ"—प्रिन्सपाल ने कहा। उस गंभीर, विरक्त मुखको देखकर सोहनी विस्मित हुई।

"हाँ, मैंने बुलाया है।"

सोहिनी चुपचाप खड़ी रह गई। उसे बैटने तक को न कहा गया।

"कल रात में कहाँ गई थीं ? मैंने सुना है कि सदा ही यों आप जाया करती हैं।"

सोहिनी चुप खड़ी रही।

"एक युवती नारी का रात में बाहर अकेली जाना, कहाँ तक उचित है। इसे कहने की जरूरत नहीं।"

सोहिनी फिर भी कुछ न बोली।

"मुझे आश्चर्य है, भले घर की लड़कियाँ इस तरह जा भी कैसे सकती हैं।"

जब सोहिनी ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब प्रिन्सिपाल झुँझला पड़ी–"सुन रही हैं आप सोहिनी देवी ? मैं जानना चाहती हूँ-अकेली रात में कहाँ गई थीं ?"

"अकेली ? किन्तु मैं अपने आप के लिए यथेष्ट नहीं हूँ क्या ?"

"यह सब किताबी बातों को सुनने का वक्त मुझे नहीं है, मुझे सन्तोषजनक उत्तर दीजिये, कहाँ गई थीं ?"

सोहिनी ने मुँह उठाया–"आप ? किन्तु आपका बर्ताव भद्रता के बाहर जा रहा है मेडम।"

"मैं लाचार हूँ। यह कोई नाट्यशाला नहीं है। कालेज है। यहाँ के नियमों को यदि अध्यापिका ही न मानना चाहें, तो वही अध्यापिका लड़कियों को क्या सिखला सकेगी ? इसे आपको जानना–समझना चाहिये।" अपमान, वेदना से सोहिनी के शरीर के लोम सिहर कर अकड़ रहे।

"मैं जानना चाहती हूँ—कल रात में अकेली आप कहाँ गई थीं ?"

"और मैं उसे कहना नहीं चाहती हूँ।"

उसने तीक्ष्ण दृष्टि से सोहिनी को देखा। व्यंग, घृणा की कटु हँसी मुख पर आकर लौट पड़ी—"यदि हमारे कार्य, रहन-सहन में दोषनीय कुछ नहीं है, तो उसे छिपाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती है।"

दर्द की अतलस्पर्शी छाया सोहिनी के मुख पर व्याप गई, उसके अनुद्वेलित, शान्त हृदय पर जैसे झटिका बह निकली, तोभी वह संयत स्वर से बोली—"किन्तु अपनी सफ़ाई देने के लिए भी तो मैं कुछ कहना न चाहूँगी। वैसी प्रवृत्ति से घृणा करती हूँ। और सफ़ाई के भीतर से अपने को चमका कर स्वयं अपने आप के पास छोटा होना भी न चाहूँगी।"

"ऐसा। हाँ, खेद के साथ मुझे कहना पड़ रहा है, सोहिनी देवी, इस कालेज में आपको जगह न मिलेगी। कृपा कर कल तक—"

"नहीं, मैं आज ही जा रही हूँ।"

कहने को तो कह गई सोहिनी कि आज जा रही हूँ और उसने अपने थोड़े से सामान को भी सँभाला। फिर ताँगे पर बैठ गई, किन्तु उसे जाना कहाँ है, करना क्या है, यह वह स्वयं भी नहीं जानती थी।

चलते-चलते जब ताँगे वाले ने पूछा—"कहाँ ले चलूँ ?"

तब जैसे वह खोई खोई सी बोली–"चलो।"

घण्टों रास्ते में घूमने के बाद ताँगे वाले को सोहिनी को उन्माद होने की शङ्का होने लगी। रूखे स्वर से वह बोला–"कहीं आपको जाना है या योंही भटक रही हो ?"

इस बार सोहिनी अपनी वास्तविक परिस्थिति को समझी सी। और तब कुछ विचारती हुई बोली—"एक सौ पाँच चितपुर।"

बाल्य-सखी माधुरी का गृह था यह, सहसा ही उसे स्मरण हो आया था, अभी वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कहीं काज मिल ही जायगा।

ताँगे वाला चिढ़ा—"चितपुर तो पीछे छोड़ कर आ रहे हैं, पूछ-पूछ कर हैरान हो गया मुँह न खोला।"

बक झक कर अन्त में उसने एक सौ पाँच चितपुर के दरवाज़े पर गाड़ी को रोक दिया। सामान दरवाज़े पर रखकर उसने रुपये पाकट में रखे और चल पड़ा।

फिर सोहिनी ने जंजीर खटखटाई, फिर सखी द्वय गले से मिली। सामान यथा स्थान सुरक्षित हुआ। सब बातों को सुनकर माधुरी ने उत्साह से कहा—"सोचने की क्या बात है, यहाँ के स्कूल में एक टीचर की ज़रूरत है।

"कौन सा स्कूल है ?"

महिला विद्यालय।"

"स्कूल है वह तो।"

"बहन, अभी स्कूल ही में करो, पीछे खोजकर किसी कालेज में चली जाना, और मैं कहती हू तुम काम करो ही क्यों ?"

सोहिनी हँस पड़ी।

उसके बाद सखी द्वय अपने हृदय की कथा कहने में मग्न होगईं, दीर्घ विच्छेद के बाद यह भेंट।

मध्याह्नबेला में गृहस्वामी का शंकित स्वर दालान में सुन पड़ा—कदाचित वह गृहिणी से कह रहा था—"उस थायसिस की रोगिनी को तुमने घर में जगह क्यों दे दी ? घर भर को मारने का विचार है ? कल सवेरे उसे साफ़ कहदो कि यहाँ जगह न होगी।"

सोहिनी ने सुना, रक्त उसका अपमान से हिम-शीतल हो रहा। वह मतवाली-सी झूमती हुई बाहर निकल आई। सहेली माधुरी का अनुनय-विनय-अनुरोध सब कुछ की उपेक्षा कर वह पथ पर आकर खड़ी हो गई। अपने चहुँओर के उस विराट एकाकीपन के प्रति उसने अवज्ञा से आँख उठाई। फिर कुछ दूर चलकर एक वृक्ष के नीचे धूल में लेट रही।

पड़ी-पड़ी वह सोने की चेष्टा करने लगी। कंकड़ उसके सुकुमार देह में चुभने लगे, उपादानहीन मस्तक दर्द से फटने सा लगा। हृदय की पीड़ा ने उसे आविष्ट कर दिया। खाँसते खाँसते उल्टी हो गई। वह उठकर बैठी, श्वास फूल रहा था, देर तक वृक्ष से टिकी बैठी ही रह गई।

बैठे बैठे उसकी आँखों में नींद उतर आई, कब तक वह

सोई सो वह समझ न सकी। एक समय वह सहम कर उठ बैठी। कई कुत्ते उसके पास खड़े भोंक रहे थे। उसके बाद सारी रात वह कुत्तों के साथ जाग कर बैठी रह गई।

उस जनहीन पथ पर भोर की वेला में सोहिनी चल पड़ी। माधुरी के घर से न उसने वस्त्र लिया था और न बिस्तर का बण्डल ही। एक वस्त्र से पथ अतिक्रम करती वह चलने लगी।

तो साथी चुनती किसे ? दुनियाँ में है भी उसका कौन ? विशाल यह विश्व, विराट यह प्राणियों का मेला, पशु-पक्षी-कीट-पतंग तक कोई भी साथी-विहीन नहीं। और वही ? किन्तु साथी वह चुनती किसे ? पथ पर आने की बेला में साथी तो कोई नहीं था न साथ, तो फिर उसी पथ पर चलने की वेला में साथी वह चुनती भी किसे ?

चुनना ? किन्तु कहने-सुनने की प्रतीक्षा न कर ही यदि उसके मन के प्राण ने चुन लिया हो कोई साथी, यदि उस मन के प्राण में जाग कर बैठ गया हो वह साथी, उसके एकाकी पन के मौन अकेले में अकेला आकर अड़ गया हो वह साथी, यदि उसके हृदय-भेदी नीरव रोदन का अंशीदार वन गया हो वह साथी, तो इसके ढोल-नगाड़ा पीटने की भी ज़रूरत कौन सी है ?

पैदल चली वह गाड़ी के किराए के लिए एक पैसा भी नहीं था पास में। अन्त तक वह महिला विद्यालय में पहुँच ही गई। हाँ, काम उसे उसी दिन मिल गया। बची हुई एक अङ्गूठी को उसने बेच डाला, ख़रीद लाई कुछ कपड़े, बासन, बिस्तर आदि

और रहने लग गई वहीं पर।

छोटा कार्टर, वैसी ही छोटी गृहस्थी, आडम्बरहीन। वह, एक दासी, साधारण गृहचर्या। दस बजे से चार तक अखण्ड मनोयोग से लड़कियों को पढ़ाती, रात्रि के समय स्वयं कुछ पढ़ती, कभी मण्डली का कार्य घर पर रात जाग कर करती, अवसर समय मण्डली में जाती।

उसकी कार्य-कुशलता से, एकान्तिक यत्न से, कर्तृपक्ष अधिक सन्तुष्ट रहा करता। दिन उसके कटते एक से नहीं, किन्तु नित्य नवीन घटना के मध्य से।

कैसा है यह विचित्र जीवन—सोच उठती कभी वह। कैसी है यह नित्य नैमित्तिक दिनचर्या? यह कीटदष्ट हृदय की पीड़ा? पहेली सा यह जीवन, न है इस पहेली का आदि, नहीं है अन्त! एक दुष्टग्रह की भाँति वह भटकती फिर रही है विश्व के पथ पर, जैसे उस ग्रह का कभी अन्त होने का ही नहीं।

यह विश्व-पूर्ण खुशी? एक भिखारिन सी केवल दूर खड़ी देखा करती वह उस हँसी-खुशी के प्रति। जैसे उस खुशी की छाया तक स्पर्श करना उसके लिए अनधिकार चर्चा हो, निषेध हो, शपथ हो। किन्तु किन्तु क्यों? उसका अपराध? और तब ज़रा सा खिन्न देख कर सोहिनी पुस्तक उठा लेती, यह क्या से क्या सोचने को बैठ गई है वह? क्या ज़रूरत है उसे इन बातों को सोचने की? सो तब सोहिनी गम्भीर मनोयोग से पुस्तक में डूब सी जाती।

दुनियाँ में यदि विस्मयजनक वस्तु है तो यही कि असम्भव के नाम पर निरा शून्य ही रह जाता है। कदाचित इसी बात की सत्यता थी उन दोनों की भिन्न प्रकृति की मित्रता। एक उद्धत पुरुष-प्रकृति था तो दूसरा गृहाबद्ध गृहिणी-सा। एक विचित्रता के भीतर अपनी शक्ति को पुष्ट करना चाहता, दूसरा गृह के कोने ही शक्ति को परिपुष्ट करने में सन्तुष्ट।

ऐसे दो भिन्न प्रकृति में भी मित्रता की दृढ़ ग्रन्थि कब पड़ गई, सो उन दोनों के निकट अनजान ही रह गया। और शायद जान भी न पाते यदि विदा और विच्छेद की एक वैसी बेला उपस्थित न हो जाती। जान पाए वह उसदिन—उस सुदूर इगंलेएड में जाने के बाद।

यों बहुत पहले की बात तो है ही वह। सुनील और असित प्रतिवासीद्वय साथ-साथ खेले, पढ़े और एक ही जहाज़ पर बैठकर दोनों ने समुन्दर को पार किया, सो भी जहाज़ के निम्नतर कर्मचारी बनकर। एक उन्माद की चिकित्सा तथा विज्ञान-जगत से पारदर्शी हुआ, दूसरा दर्शनिक। और तब

प्रायः युरोप के सब देशों से ज्ञान-अर्चन करते हुए मशीन, कलपुर्जे आदि लेकर इगंलेड ही में जमकर बैठे।

और शायद युरोपवासी बनकर ही वह रहे आते, यदि उन्माद-चिकित्सक वैज्ञानिक असित की ख्याति से युरोप पूर्ण न हुआ होता, एवं न कई स्थानों पर उच्चपद कर्मचारी का पद प्रदान किया जाता।

असित ने सब पदों को नम्रता से अस्वीकार कर दिया और तब उसका चित्त वहाँ से न जाने क्यों उचाट हो गया, तब वह स्वयं प्रेकटिस किया करता था और अतुलधन का स्वामी भी बन गया था।

एक दिन देखने में आया कि सूटकेस आदि को बाँध कर असित स्वदेश प्रत्यागमन के लिए तैयार हो चुका है, देख-सुनकर सुनील स्तब्ध मौनता में समा रहा।

विस्मय का प्रथम वेग कट जाने के बाद सुनील ने यही पूछा –"क्या तुम देश लौट रहे हो ?"

"हाँ"। –सूटकेस में कपड़ा रखता हुआ संक्षेप उत्तर दिया असित ने। ऐसे अच्छे अच्छे काम के आफ़र मिल रहे हैं तुम्हें, यहाँ एक माह में जो कमालोगे देश में ६ माह मे भी उतना नहीं कमा सकोगे। समझे ?"

सब कुछ सुनकर मन्द मुसकान से उत्तर दिया असित ने –"किन्तु अपने ब्रेन की उपज को चिन्ता को बन्धनों में बाँधा भी तो नहीं जा सकता है न, और न पैसों के लिए उन्हें बेचा ही

जा सकता है। मैं अपनी शक्ति को, सूझको, अप्रतिहत चिन्ता को बन्धनी में बाँधना नहीं चाहता हूँ। सृष्टि जो होती है, वह बन्धनी में बँधी-सृष्टि नहीं-कहला सकती है।"

"वही हट, वही ज़िद, अरे भाई, अवसर कहीं ज़िन्दगी में बार-बार आया है ?"

उत्साह से असित उछल सा पड़ा—"बस-बस, यही मैं भी कहना चाहता था। तो जब कि जीवन में अवसर स्वयं आकर उपस्थित हो गया है तब उसे ठुकराना कैसा ? तुम देख ही रहे हो उस उस अवसर का सम्मान करने के लिए मैं किस भाँति उत्सुक, उतावला हो रहा हूँ।"

"देख रहा हूँ—उसी अवसर पर लात मार कर।"

"भूल-भूल। यों कहो कि उसका सम्मान कर रहा हूँ—उसे न चूक कर-कह जो दिया न कि आदमी के मस्तिष्क की उपज को ख़रीदा नहीं जा सकता है, सो देश में लौटकर उसका उपयोग वह अधिकारी स्वयं क्यों न करे ? मैं भी तो देखना चाहता हूँ न, कि वह है क्या ?"

"जो जी में आवे सो करो, ज़िद जब सवार है, तब वह टलने की नहीं गाँव के वही असित तो हो न, नदी में बाढ़ आई हुई थी; हम सब ने रोका, किन्तु तुम कब मानने वाले थे ? आखिर मरने से बचे। कुल आठ-दस वर्ष के तो थे ही तब किन्तु ज़िद्दी नम्बर एक।"

"है याद सुनील, हाँ तुम्हीं ने तो अपने को मौत के मुँह

में सौंप कर मुझे बचाया। और अब? यदि अब मुझे वास्तविक ही डूबना हो, तब? "—असित ने यह अन्तिम वाक्य परिहास से कहा अथवा वास्तविक ही कहा, यह समझ सकना जरा कठिन था। और न उस बात को समझने की चेष्टा ही की सुनील ने। वरन भौंह की सरल रेखाएँ सुनील के मुख की विरक्ति पर व्याप गईं।

"अच्छा-अच्छा रहने दो।" कृत्रिम क्रोध से सुनील ने कहा।

"सोचता हूँ सुनील अपने उस छोटे से हृदय में प्रेम की एक ऐसी फल्गुधारा कहाँ से बहा रखी है तुम ने, जिस प्रेम की धारा में दोष, त्रुटि, भूल—अन्याय भी बह जावे?"

"चुप रहो, ज्यादा बक बक मत करो।"

सुनील को उठते देख कर असित ने पूछा—"ऐसी जल्दी? बैठो न, बस आज ही का दिन तो रह गया है अपना साथ। फिर कौन जाने कब मिलना हो। और फिर मिलेंगे ही ऐसा भी कौन कह सकता है। शायद यही अन्तिम भेंट हो।"

सुनील ने झुँझलाकर उसे देखा फिर द्वारतक बढ़ गया।

"बैठो न सुनील।"

"नहीं। होटल आदि का बिल चुकाना है। कपड़े-अपड़े सँभालना है, सामान बाँधना है कि बैठा ही रहूँ?"

"क्यों? क्या उस होटल को छोड़ रहे हो?"

"अजीब आदमी हो तुम यार। दूर हिन्दुस्तान में बैठा मैं,

क्या विलायत के होटलों का चार्ज दिया करूँ। यही चाहते हो तुम ?"

"तुम–तुम–तुम भी युरोप छोड़ रहे हो ?" व्याकुल-आग्रह से असित ने पूछा।

"हाँ।"

"क्यों ?"

तब वात्सल्य के साथ सुनील ने कहा–"यह भी कोई शहर है ? दिन रात गरम कपड़े लादे रहो। ठण्ड से हाथ-पैर ठिठुरते रहें। सूरज का मुँह देखो, सो भी मुश्किल से। राम-राम, यह भी कोई शहर है। यहाँ अब अच्छा नहीं लगता।"

और अब मित्र के प्रति देखकर असित स्तब्ध हो रहा।

वह जानता था कि उस उपविष्ट मनुष्य के हृदय में स्वाधीन चिन्ता के लिए तिलमात्र भी सम्मान, श्रद्धा नहीं है। साधारण मनुष्य की भाँति व्यर्थ के लिए माया-मोह-ममता भी उस हृदय में नहीं है। सो यह भी असित नहीं जानता था ऐसा भी नहीं है कि स्वदेश में उसका तिलमात्र भी आकर्षण नहीं है। माता-पिता की उसके मृत्यु हो चुकी थी। पत्नी का कहीं पता तक नहीं था। वह मरी या जीवित है सो भी सुनील नहीं जानता, पिता-माता की इच्छा-स्वरूप था–वह बाल्य-विवाह। सुनील से उसकी पत्नी की भेंट एक बार हुई थी, बस इतना ही। इसके बाद सुनने में आया था कि वह छोटा ग्राम—पद्मा के तीर में बसा

हुआ वह छोटा-सा ग्राम—एक दिन पद्मा ही के अतल में समा गया था। चलो छुट्टी।

सुनील के इस हटात् मत-परिवर्तन के भीतर मित्र-प्रेम का कौनसा महा समुद्र उमड़ आया था इस बात को विचारने बैठकर असित रोमाञ्चित हो उठा, कैसा यह सर्वग्रासी मित्र-स्नेह है ? कैसी है यह चाह ? सो है भी कैसी निबिड़ ममता ? जिसने कि आज उस व्यक्ति को हिताहित-ज्ञान-शून्य कर रखा है। उसके निजी सत्ता तक को मित्र के अस्तित्व में मिला रखा है।

मौनता के भीतर समय टल गया।

सुनील पुनः चलने को हुआ।

"बैठो।"—असित ने उसका हाथ पकड़ कर खींचा।

"क्या ?"

बैठो।"

"जल्दी कह डालो।"

"बचपन से लेकर आज तक तुम्हारी जिस ममता से मैं परिचित होता आ रहा हूँ, उसे भंग करना नहीं चाहता, केवल पूछना है—"

"कुछ नहीं, न मेरे मन में किसी के लिए प्यार है, न प्रेम। और न कभी ऐसी शपथ ली थी कि ज़िन्दगी भर घर छोड़ कर परदेश में पड़ा रहूँगा, न भाई न बन्धु, यहाँ कोई सभ्य आदमी रह भी सकता है ? मैं जा रहा हूँ अपने घर। इसे लेकर ऐसा तूफ़ान मचाने की कोई ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हें कब

कह रहा हूँ कि तुम भी चलो मेरे साथ।"

उसका क्रोध देखकर असित मुँह फेर कर हँसने लगा। और उसे घूरता हुआ सुनील निकल गया।

फिर जहाज़ पर चढ़ते समय असित ने पाया था साथी स्वरूप सुनील को। तब सुनील को छेड़ कर असित ने कहा था—"अच्छा किया जो चल दिए, घर पर बाल-बच्चे रोते होंगे।"

उस परिहास को सुनकर सुनील मुँह फेर कर बैठ गया था, फिर दिन भर वह असित से बोला नहीं था।

बस इन दोनों का पूर्व इतिहास है इतना ही। सो ऐसे दो विरूद्ध प्रकृति में भी मित्रता थी असीम, अनाहत, अकथनीय, शायद वह एक पहेली ही रही रही हो। किन्तु बात थी वह सही ही।

—:o:—

(११)

नित-प्रतिदिन का सवेरा अध्यापिका सोहिनी के द्वार पर आया, परन्तु नित की भाँति स्वागत-गान से उसका स्वागत वह उस दिन न कर सकी। मधुमक्खी सी गुनगुनाती, खुले आकाश के प्रति आँखें पसार कर वह खड़ी न हो सकी। नहीं ही उस सवेरे से खुशी की होली खेल सकी।

सो खेलती भी कैसे? व्याधि ने हटात नहीं, किन्तु तिल-तिलकर ग्रास कर लिया था न उसे, दृढ़ आलिंगनाबद्ध कर लिया था न उसे। उस आलिंगन से मुक्त होने की चेष्टा में रात्रि के चारों प्रहर निकल चुके थे और प्रातः की बेला में क्लान्त-श्रान्त वह अपने ज्वर-तप्त शरीर को लेकर पलंग पर पड़ रही थी—बोधहीन सी।

क्रमश वार्ता विद्यालय की प्रधानता के निकट पहुँची। तब उसके सिरहाने बहुतेरे उपस्थित हो गए। बिज्ञ, वयोःवृद्ध चिकित्सक उपस्थित हुआ। घण्टों परीक्षा चली। उसके हृदय की परीक्षा कर डाक्टर सिहर उठा, विस्मय की घनीभूत छाया ने डाक्टर के मुख की स्वाभाविक हँसी को आच्छन्न कर लिया।

परीक्षा के अन्त में स्कूल की प्रधाना को स्वतन्त्र लेजाकर कहा—"मुझे विस्मय है श्रीमती, जिसके एक तरफ़ का लंगस कीटों ने निश्चिह्न कर दिया हो; वह जी कैसे रही है ? उपरान्त स्वस्थ व्यक्ति की भाँति काम कैसे कर सक रही है ?"

"ऐसा ? इसे कौनसी बीमारी है ? यह लड़की बहुत अच्छी है, दूसरी टीचरों से कहीं दूना और अच्छा काम करती है। धोखा देने की प्रवृत्ति तो इस में है ही नहीं। इस की तरह एकान्तिकता से पढ़ाते मैंने कभी किसी को नहीं देखा। केवल इतना ही नहीं। इसे यहाँ आए शायद छः सात महिने हुए होंगे, इस थोड़े से समय में इसने हमारे विद्यालय की ऐसी उन्नति कर दिखलाई है कि विद्यालय के संस्थापकों तक को चकित रह जाना पड़ा है।"

"बिचारी लड़की।"—कहा डाक्टर ने।

"इसे क्या बीमारी है; डाक्टर ?"

"थायसिस।"

प्रधाना सिहर उठी, बोली—"रिपोर्ट आप यहाँ के अधिकारी को भेज दीजिए। यह छूत की बीमारी है।"

"कल दोपहर तक मैं इसकी पूर्ण परीक्षा ख़तम कर दूँगा, तब फिर मैं उनसे स्वयं मिलूँगा। अब इस लड़की की जगह यहाँ नहीं हो सकती है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु जिसमें ऐसी स्फूर्ति, जीवट भरा हुआ हो उसकी मौत राज-पथ पर भी नहीं हो सकती है। अद्भुत रोगिनी। इसे मैं सेनेटोरियम में भिजवा दूँगा।"

"अच्छी बात है।"

"अच्छा तो। सुप्रभात श्रीमती।"

"सुप्रभात-सुप्रभात।"

डाक्टर चला गया। रोग का नाम सुनकर एक भीत आशंका विद्यालय में छा गई।

परन्तु जिसे लेकर इतना सब कुछ हो गया, वह यह सब जान न सकी और सन्ध्या के पूर्व ही पलंग पर उठकर बैठ गई। सिरहाने पर रखी हुई दवा की शीशी को अचम्भे से निहारने लगी। बस जाना उसने उतना ही, उससे आगे और कुछ न जाना, न समझा।

रात्रि में एकबार पुनः प्रधान आकर उसे देख गई। दासी ने दवा, पथ्य दे दिया। थार्मामीटर जब उसके पास लाया गया, तब एक अवहेलना से वह बोली—"इसकी कोई जरूरत नहीं।"

"माता जी कह गई हैं बुखार नापकर रखने के लिए।"—दासी ने कहा।

"यों मुझे बुखार आया ही करता है। उन्हें मैं कह दूँगी, तुम्हारे डरने की जरूरत नहीं। जाकर सो रहो। अब मैं अच्छी हूँ।" परिचारिका को पुनः पुकार कर सोहिनी ने पूछा—"कल शनिवार है न? अच्छा तो मार्निंग स्कूल है। हाँ, तुम जाओ।"

दासी के चले जाने के बाद पलंग पर पड़ी वह विचारने लगी, अपने इस बेसुध होने की बात। थोड़ा बहुत ज्वर उसे नित आया करता है। कभी दो-तीन दिनों तक ज्यादा भी रहा

आता है। उसी ज्वर में वह काम-काज किया करती । उसके ज्वर के कष्ट को उसके सिवा दूसरा कोई जान तक न पाता। सो आज यह कैसे क्या हो गया ? ज्वर उसे तब चढ़ गया था, जब कि वह स्कूल से लौटी थी। चाय एक कप पी ली थी। उसके बाद पलंग पर नहीं, आराम चेयर पर लेट कर कुछ पढ़ने लगी थी, बस उतनाही। उसके बाद क्या हुआ । कौन कौन उसके कमरे में आया-गया। कबतक और कितने दिनों तक वह पलंग पर पड़ी रही-कुछ भी स्मरण नहीं। शायद बारह घण्टे या एक दिन हो। विचारते-विचारते अपने पर उसे क्रोध चढ़ आया यह कैसा लड़कपन है ? यह कैसा सुध को भूल जाना है।

अच्छा-अच्छा-जैसे अपने को सुनाकर, डाँटकर वह कहने लगी-अच्छा-अच्छा।

दूसरे दिन भोर बेला में सोहिनी की नींद खुली। जल्दी से उठकर घड़ी देखी। ६: बजने को पन्द्रह मिनट बाकी थे। देरतक सो गई। स्कूल का समय उपस्थित है, शीघ्रता से नित्य-क्रिया समाप्त कर वह चल पड़ी। दासी चाय लेकर उपस्थित हुई। प्यास से गला सूख रहा था। घड़ी के प्रति देखा। ६: पर काँटा था। उसने चाय की ओर से मुँह फेर लिया-"देर हो गई है, चाय पीने का वक्त अब नहीं हैं, तुम पी लेना।"

आग्रह, उत्साह से सोहिनी स्कूल गई। अपने क्लास में पहुँची, लड़कियाँ यहाँ-वहाँ खड़ी बातें कर रही थी। उसे देखते ही लड़कियों के मध्य में आंतक का बादल छा गया। सोहिनी ने

उस ओर शायद ही ध्यान दिया हो। वह बैठी और तब उसे परिवर्तन का कुछ आभास-सा मिला। उसकी छात्राएँ दूर हटकर खड़ी हो गई ?

कुछ लड़कियाँ इस प्रकार निकल कर भागीं—जैसे यमदूत ने उनका पीछा किया हो। कुछ लड़कियाँ द्वार पर खड़ी भय-मिश्रित विस्मय से उसे देखने लगीं।

सोहिनी की दृष्टि खिड़की पर पड़ गई, प्रिय छात्रा माया उसे झाँक कर देख रही थी। उस घनीभूत आतंक के भीतर बैठी सोहिनी स्वयं ही जैसे एक आतंक की मूर्ति बन गई।

उसे घेर कर यह विद्रोह की अग्नि, आतंक की होली कैसे, कब और क्यों जल गई ? जल भी गई सो उसी के अनजान में। उस पर यह अविश्वास प्रिय छात्राओं का उस से ऐसा भय और सो भी उन्हीं का जिन्हें कि वह कदाचित अपने आप से भी अधिक स्नेह करती, विश्वास किया करती। यह कैसी अनहोनी, असम्भव सी घटना हो रही है ? सो भी क्यों ?

"सुरमा!"—एक समय सोहिनी पुकार उठी।

और तब उस स्वर से जैसे कमरे में भागने की होड़ लग गई, प्रत्येक चाहने लगी—पहले निकल भागे, इस प्रकार वह सब भाग रही थीं—जैसे कि मौत दोनों बाँह फैलाए उन्हें पकड़ने को दौड़ रही हो।

उस कमरे में बैठी सोहिनी का श्वास जैसे रुकने को हुआ। उदास-शून्य हृदय से वह बाहर के दालान में पहुँची, वही भागने

की धुन। लड़कियाँ किताबों को छोड़ छोड़ कर भागीं।

सोहिनी का धैर्य जाता रहा। हाथों से हृदय दबाकर वहीं चेयर पर बैठ गई।—तो—विचार उसका उत्क्षिप्तसा हो गया—तो—इन पाठिकाओं के आतंक के मूल में सत्य कौन सा है ?

सत्य ? हाँ, सत्य ही। चौबीस घण्टे तक उस की अचेतन अवस्था में क्या वह स्वयं ही मौत बन गई ? और उस की काया में अब प्रेतिनी विराजमान है ?

नहीं भी कैसे ? तबी न आज लड़कियाँ साक्षात मौत को देखकर भाग रही हैं। उन सब की दृष्टि में भरी हुई वह साकार आतंक ? वह आतंक मनुष्य की दृष्टि में कब मूर्त हो सकता है, इस बात को विचारने में बैठकर सोहिनी आतंक से सिहर उठी।

आतंक—आतंक, उसे लगने लगा उस वातावरण में एक जीवित आतंक व्यापा हुआ है। ओर उस आतंक की मुख्य नायिका प्रेतिनी की काया में जैसे अट्टहास्य कर रही हो। आतंक-आतंक, न केवल परिहास, न मात्र व्यंग-कौतुक। एक सजीव आतंक—मृत्यु का आतंक।

मृत्यु ? हाँ, मौत की काया में जो वह स्वयं ही परिवर्तित हो बैठी है। वह भी केवल दस-बारह घण्टों के भीतर। और इस परिवर्तन के समय में स्वयं वही रह गई थी अनजान। सब से बड़ा दुःख तो यही है।

आतंक—चहुँ ओर जमा हुआ आतंक, मौत के आतंक

के भीतर पल-पल सोहिनी समाने सी लग गई। भय से उस के रोम अकड़ से रहे, सोहिनी ने आँखें बन्द कर लीं, किन्तु हाय, चैन कहाँ ? शांति कैसी ? उन बन्द नेत्रों के भीतर विकराल एक विकट आकृति आकर रो उठी, और यह मुख ? अरे-मुख तो उसी का है न।

और जब कि उस के मुखसे चीत्कार-ध्वनि निकलने को हुई, तब पहुँच गई प्रधाना—"तुम यहाँ पर क्यों आई सोहिनी देवी, अपने क्वार्टर में चलो, यहाँ के मालिक और डाक्टर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" बोली वह—जरा दूर खड़ी होकर रूमाल द्वारा नासिका आच्छादित कर।

आच्छन्न सी सोहिनी ने यह सब कुछ देखा, सुना, फिर उन लड़कियों की तरह ही भाग कर अपने क्वार्टर में पहुँच गई।

दो व्यक्तियों के साथ डाक्टर बैठा कुछ कह रहा था। सोहिनी पहुँची और एक ओर खड़ी हो गई।

"बैठो" किसी ने कहा।

डाक्टर उन दोनों से कह रहा था।—"सिर्फ़ पहुँचाने का खर्च लगेगा, इस लड़की के लिए फ्री सीट आदि की व्यवस्था मैं कर दूँगा।"

"अच्छी बात है। तो कौन सा सेनेटोरियम आप इनके लिए ठीक समझते हैं ?

"भवाली सेनेटोरियम सब से अच्छा है क्यों, इन्हें पहुँचा दीजिए, वहाँ की व्यवस्था भी अच्छी है।"

एक ने अविश्वास से कहा—"हज़ारों क्षय रोगी सेनेटोरीयम में रहा करते हैं। वहाँ का ख़र्च ज्यादा है। फ्री सीट व क्वार्टर आप को कहाँ मिल जायगा ? मैं तो सोचता हूँ यह असम्भव बात है।"

"मिलता है। प्रतिवर्ष शायद दस रोगी फ्री लिये जाते हैं। ख़ैर, वह कुछ भी मैं कर लूंगा।"

"ऐसा।"

"आप लोग चिन्ता न करें, कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा इसके लिए। बिचारी लड़की। शायद कोई सहारा भी नहीं है इसका।"

"नहीं, हम जहाँ तक जानते हैं यह अकेली है।" एक ने कहा।

दूसरा कह उठा—"यदि फ्री सीट न मिले तो हानि नहीं। हिन्दू की लड़की, हमारे रहते हुए हिंदू घर की लड़की रास्ते में मारी-मारी नहीं फिर सकती है। आप बन्दोबस्त करें और जहाँ तक हो जल्दी।"

सोहिनी ने सब कुछ सुना,—नहीं के बराबर। दिन एक आच्छन्न तन्द्रा के मध्य से निकल गया। और दूसरे दिन जब उसका सामान बाँधा जाने लगा, तब बैठी वह केवल देखती ही

रह गई। पूछा तक नहीं कि कहाँ जाना है और क्यों? और उसी भाँति वह सेनेटोरियम के कल्पनातीत एक नवीन राज्य में पहुँचा दी गई, और रही भी आई वहाँ, मौन, मूक, चिर समाधिस्थ सी।

—:o:—

(१२)

वसन्त का द्विपहर। उन्मादालय के ताण्डव नृत्य पर जैसे शान्ति का प्रलेप पड़ गया था उस द्विपहर में। उन्मत्त, उन्मादिनी गण अपनी-अपनी कोठरियों में पहुँचाई जा चुकी थीं।

नर्स, डाक्टर आदि विश्राम की गोद में प्रसन्न थे।

उस कीट-पतंग, यन्त्रादि-पूर्ण वृहत हाल में, अपने उस अवकाश समय को असित जैसे समाकर रख रहा था। द्वारों पर नीले पर्दे, नीले काँच की खिड़कियाँ। काँच के जारों में नाना प्रकार जीवित कीटाणु, मार्वल टेबिलों पर काँच के बड़े बड़े बर्तनों में रखे कई प्रकार तरल पदार्थ। हाल के एक कोने में ज़मीन पर अद्भुत आकृति का वृहत यन्त्र, नाना प्रकार के यन्त्र रखे आलमारियों में। एक प्रकार के कीटाणु की परीक्षा में तन्मय था असित।

घन्टी टनटना उठी, असित के समाहित चित्त के द्वार पर वह ध्वनि जैसे ठोकर खाकर दूर छिटक पड़ी, कदाचित वादक ने कुछ क्षण अपेक्षा की हो, पुनराय घण्टी ठुनुक उठी। इस बार असित के कानों तक आवाज़ पहुँची।

वह उठा, घड़ी के प्रति निहारा-तीन बजने में दस मिनट बाकी थे। विरक्ति से भ्रत्य को पुकारा। पूछा। –"कौन है ?"

"लेडी डाक्टर मिस मार्था आई हुई हैं।"

"अच्छा जाओ, बैठाओ।"

अँगड़ाई लेता हुआ असित उठकर खड़ा हो गया। पर्दा हटा कर बाहर निकला। और बाहर पहुँच कर ज़रा विस्मय हुआ। उसे लगा-जैसे उन्मादालय के वातावरण में सहसा एक गंभीर उदासी व्याप गई है। वह विस्मित हुआ, अचम्भा कर कहने लगा–अभी ज़रा पहले बसन्त की इस खुशीभरी दोपहरी को उसने अलक्त–रञ्जित, नूपुर–सिञ्जित स्वप्न ही सा पाया था न ? एक हलकी खुशी, हलका आमोद, हलकी स्फूर्ति। तो पलभर में ऐसा कौनसा प्रलय हो गया जिसने कि उस खुशी को निःशेष कर चूस लिया और उदासी–लू—एक ऐसा विकराल देस—उसके स्थान पर जीवन्त कर दिया ? वसन्त-द्विपहर का पूर्ण माधुर्य लूटकर उसे विधवा का वैराग्य वस्त्र पहना दिया ?

निविड़ विस्मय से उस परिवर्तन को असित ने देखा। लगने लगा असित को उसका हृदय, कर्मशील, फूर्तीला मन उदासी के बोझ से दबा जा रहा है। अनुभव होने लगा उसे–जैसे अभी अभी उन्मादालय पर प्रलयंकरी आँधी बह गई हो और उस वातावरण की खुशी के शेष बूँद तक को लूटती हुई उसे त्रस्त, व्यथित करती चल पड़ी हो।

असित ने आँखें पसार कर चहुँओर देखा। रौद्र की सुवर्ण

मयी किरण पर मानों राख की धूसर छाया पड़ गई हो। जैसे कि वहाँ की वायु में किसी का उदास श्वास समा रहा हो। असित ने आश्चर्य से चहुँओर देखा, तब झटके देकर अपने हाथ-पैरों में स्फूर्ति लाने की चेष्टा करता हुआ ड्राईंगरूम में चला।

ड्राईंगरूम में बैठी हुई थीं दो नारियाँ। वृद्धा महिला का कर-कम्पन करते हुए असित ने पूछा-"सब कुशलता तो है मिस-मार्था?"

"यही मैं भी पूछने को थी न डाक्टर।"-स्मित हास्य से सिर हिलाती हुई उसने उत्तर में कहा।

असित चेयर पर बैठ गया और तब ठीक सामने बैठी हुई तरुणी के प्रति उसके नेत्र आवद्ध हो रहे। यह उदासिनी नारी यौवन में योगिनी बनकर क्यों बैठ गई है? -असित की दृष्टि में विस्मय घनीभूत हो रहा। सो उस विस्मय से परिचय होने की वेला में रह गया वह हतवाक-विस्मय-विस्मय, ऐसा विस्मय।

प्रश्न उठा मन में-इस पूञ्जीभूत उदासी का ऐसा जमा हुआ रूप किस शिल्पी की कौनसी अद्भुत तूलिका की उपज हो सकता है? इस बात को जैसे विचार भी नहीं पा सका असित। लगा उसे-केसर-गन्धित निरभ्र यौवन भी जैसे उस उदासीना के निकट पहुँच कर प्रौढ़ गाम्भीर्य में, संसार त्यागी के उदासी-नता में पर्यवसित हो रहा है।

लगा असित को-नारी सुन्दरी अवश्य ही है, परन्तु पूर्ण रूपसी नहीं। उस शरीर को घेर कर जो पूञ्जीभूत उदासीनता,

रिक्तता का धूम धूमायित हो रहा है, उस अदृश्य किन्तु व्यापक धूम ने ही इसके सादा सौन्दर्य को आवरित कर रखा है, और उस गोरे मुख की तीक्ष्ण किन्तु उन्मादभरी सी दृष्टि ?

असित का जी उदास हो उठा—एकदम उदास। उसके जी में न जाने कैसी एक उदास छाया समा गई। अपनी ओर असित को देखते देखकर नारी उसे घूरने लगी। और घूरते घूरते चिल्ला उठी—"दानव, हत्यारा, अब क्या लूटने को आया है ?" और फिर वह मौन ही रही।

असित के जिज्ञासू नेत्रों के प्रति देखकर मिस मार्था ने दया सहानुभूति से कहा—"बिचारी—ग़रीब लड़की।"

"पागल है ?"

"हाँ, सो भी अचानक होगई। उस छोटे से ब्रेन में ईश्वर ने कैसी प्रतिभा भर दी थी क्या कहूँ।"

असित मिस मार्था के निकट ज़रा हटकर बैठा, मनोयोग से पूछा—"यह आपकी पहचान की है ?"

"हाँ,। कई वर्ष पहले यह लड़की मुझे मिली थी। अर्द्ध उन्मादिनी नारी। मिली थी यह हटात ही।"

"अच्छा, तभी से यह पागल है ?"

"नहीं-नहीं। मैं एक गाँव में बच्चा जनाने को गई थी। वहीं यह मिली। तब यह अपने बच्चे को खोकर उन्मादिनी-सी हो रही थी। बच्चे को खोया ग़रीबी में पिसकर। इसे मैं अपने साथ लिवा लाई। लवारिस अभागिनी लड़की। तब इसे मैंने लिखाया

पढ़ाया। मेरे ही घर पर रहती थी। इसकी मेधा को देखकर मास्टर अवाक रह जाता, जोभी पढ़ाया जाता। सिखलाया जाता सो इस जल्दी और निपुणता के साथ उसे सीखा करती कि वह एक समूचा अचम्भा ही तो है डाक्टर। धीरे धीरे पागलपन जाता रहा, आप और मुझ सी यह हो गई, इंगलिश भाषा की विद्वान बन गई।"

हाँ यह सब कुछ करती -"दीर्घ श्वास लेकर कहने लगी पुनः मिससार्थ। -"किन्तु रहा करती गंभीर, बोलती बहुत कम। मैं इसे नौकरी कराना नहीं चाहती थी, डाक्टरी पढ़ाना चाहती थी।"

"तो पढ़ा इसने डाक्टरी ?"

"नहीं, यह जिद्द कर बैठी, कहने लगी-अम्मा, मुझे कोई ऐसा काम दो, जिससे कि मैं ग़रीबों की सेवा कर सकूँ।"

"अच्छा।"

"हाँ, तब इसे नर्स का कोर्स पढ़ाकर अस्पताल में काम दे दिया। जब कोई ग़रीब पहुँच जाता। विशेषतः मैं देखती जब कोई बच्चा पहुँच जाता, तो यह इस ममता से, ऐकान्तिक भाव से उसकी सेवा करती, कि सब लोग अचम्भा करते, मैं कहती बीमार पड़ जायगी तूलिका—"

"इसका नाम तूलिका है ?"

"हाँ, तब इस दीनता से मुझे देखती कि और कुछ कहते नहीं बनता।"

"अच्छा, उसके बाद ?" असित ने संयत स्वर से पूछा ।

"वही तो । अभी उस दिन की बात है। दो-ढाई वर्ष के बच्चे को लेकर एक औरत भर्ती हुई । दोनों बीमार । ग़रीब ऐसी कि बच्चेके अंग में एक टुकड़ा तक नहीं । शाम को मैंने देखा साफ-सुथरे कपड़े वह दोनों ही पहने हुए हैं । समझ गई तूलिका ने बनवा दिए हैं । माँ बेटे दोनों को टाईफाएड था । माँ मर गई । बच्चा । तूलिकाने रात जाग जाग कर उसकी सेवा की ।

फिर उस दिन रात में दूसरी नर्स ने मुझे पुकारा-भागी भागी अस्पताल पहुँची । वहाँ पहुँच कर जिस दृश्य को देखा—मेरे रोएँ खड़े हो गये । बच्चा मर चुका था और उस मृत बच्चे को गोद में लिए हुए तूलिका उसके मुँह में बेदानों के दाने भर रही थी और कह रही थी—"खा, पेट भर कर खाले । बेदाना का एक भी दाना दुनियाँ में न रहने पाएगा । सब अपने बच्चे को खिलाऊँगी ।"

"ठीक है ।"—सिर हिलाता हुआ असित बोला ।

"मैं उसके निकट जाकर खड़ी हो गई । तूलिका ने मुझे लौटकर भी न देखा, तब मैंने उसे हिलाया, पुकारा, फिर उसके भावहीन, उन्मादी आँखों के प्रति देखकर सिहर उठी—यह कैसे क्या हो गया है, मेरी तूली उन्मादिनी जो होगई है। उसने अवहेलना से मुझे देखा, तब सब के मुँह में वेदना भरने लगी । कहा मैंने—"यह क्या कर रही है ? वह मर चुका है, उसे गोद से उतार दो ।"

"मर कैसे जायगा ? मर सकता कैसे है ?"—कह चली वह-"मेरे सुरेश ने वेदाना माँगा था न। महिना भर से पलंग पर पड़ा पड़ा चिल्ला रहा है न,—माँ, एक भी दाना दे दे मुझे।"

फिर तूलिका जैसे कान लगाकर कुछ सुनने लगी।

"तूलिका, यह श्यामू है बेटी। अपना रोगी श्यामू। मर गया है यह। इसे लेजाने दो।"

वह दोनों हाथों से उसे छाती से लगाकर गुनगुनाने लगी—'मेरा सुरेश वेदाना चाहता था न। वेदाना का एक दाना। उस दिन उसी के बिना चल बसा था। और आज ? आज संसार भर के बेदाने मैंने इकट्ठे कर रखे हैं—अपने बच्चे के लिए। उसे पेट भर बेदाना खिलाऊँगी। मेरे पास से मेरे बच्चे को छीन कौन सकता है ?"

इसके बाद वह वेदाने मृत मुख में भरने लगी। मैं घण्टों विमूढ़-सी खड़ी रह गई, एक तरफ़ पर्वत-प्रमाण वेदानों का ढ़ेर था और तूलिका शव को लिए, दूसरी ओर किम्-कर्तव्य हीन-सी मैं। न जाने इसने इतने बेदाने कहाँ से इकट्ठे कर लिए थे। मुश्किल से बच्चे को छीना, तब से यह पागल है।"

"कितने दिन हुए इस घटना को ?"

"थोड़े दिन। मैं इसे आपको सोंपना चाहती हूँ।"

"खुशी से मिसमार्था।" नींदभरी आवाज़ से असित बोला।

"मैं सोचती हूँ रात जाग-जागकर और उस बच्चे की मौत

को देखकर तूलिका का ब्रेन कुछ खराब हो गया है। महिने भर में यह ठीक हो जायगी।"

गंभीर मुख से असित बोला–"हूँ"।

"यह अच्छी हो जायगी न ?"

"असम्भव क्या है ?" इनका और कोई नहीं हैं ?

"नहीं।"

"इनका पूर्व इतिहास आप कुछ जानती हैं ?"

"नहीं के बराबर। कहती थी शिशु-काल में विवाह हुआ था। ग्राम में रहती थी, पति को एक दो दिन मात्र देखा था—युवती अवस्था में। सो भी रात की चुप्पी में। परिचय किशोर-किशोरी का पर्दे की आड़ ही में रह गया, बाहर किसी ने सीटी बजाई, जिसे सुन कर पति त्रस्त-भाव से पुनः भेंट होने का वचन देकर चला गया, फिर नहीं लौटा। उसी रात की देन थी वह सन्तान, उसका सुरेश।"

इसके बाद तूलिका को कुछ समझा-बुझा कर मिस मार्था चल पड़ी, मिस मार्था को गेट तक पहुँचा कर असित लौट आया, तूलिका उसी चेयर पर एक सी बैठी थी।।

"तूलिका भीतर चलो।" असित ने पुकार कर कहा।

उसने सूनी दृष्टि पसार कर देखा मात्र।

"चलो तो सही, जाने क्या क्या देख पाओगी भीतर।"

"मेरा सुरेश बेदाना चाहता था न, सो रहा है प्यासे गले से,

एक अँधेरी रात, बाप रे; आँधी-पानी देखो देखो; वह पेड़ टूट रहे हैं। सुरेश—सुरेश, मेरा सुरेश बेदाना चाहता था न।"

बेदाना का शब्द कदाचित उन्मादिनी के कान तक पहुँचा। वह उठ कर असित के पीछे गुनगुनाती हुई चल पड़ी—"मेरा सुरेश बेदाना चाहता था न।"

—:०:—

बस, बैठे हो न ध्यान रमाकर उन्हीं पागलों में।" टेबिल पर हेट रख कर कुर्सी पर बैठता हुआ सुनील बोला।

उन्मादालय का वही वृहत् हाल था। सुगन्धित पुष्पों के ढेर लगे हुए थे। एक ओर बैठा असित उन पुष्पों का रंग, रूप, रस आदि जाने क्या क्या रोगियों को कुछ समझा रहा था। ढेरों को घेर कर कुछ पागल बैठे हुए फूलों को नाक से लगा-लगा कर सूँघ रहे थे। जिन में कुछ तो शान्त भाव से पुष्पों का घ्राण लेते, कुछ मुख विकृत कर पुष्पों को नख-द्वारा छिन्न-भिन्न करने में लगे थे।

"सूँघो—सूँघो, गुलाब के इस पीले फूल को तो सूँघो, तुम्हारे ही लिए मँगवाया है। इसकी हर पँखुड़ी में हँसी भरी हुई है। यदि पी लोगे उस हँसी को, तो तुम भी हँसने लग जाओगे।" कह रहा था उन्मादियों से असित।

और उस वचन से युवक उन्मादी जी खोल कर हँस रहा था।

"बैठो सुनील, ज़रा पाँच मिनट इनसे और निपट लूँ।" असित ने सुनील को सम्बोधन कर कहा फिर दूसरे उन्मादी की

ओर लौट कर कहने लगा—"देख रहे हो न, इसके इस गुलाबी रंग को ? बस इसके इसी गुलाबी रंग की छाया तुम्हारे शरीर में लिपट जायगी—तभी, जब कि तुम इस रंग को दोनों आँखों में भर लोगे। नहीं, ऐसे उतावलेपन से नहीं भाई, इसे मन लगा कर देखो, रोज़ देखते रहो, तब देखना तुम क्या से क्या हो जाते हो। इसका रूप वैसा ही है, सुन रहे हो रमेश चन्द्र! वैसा-बस-वैसा—" कहता हुआ असित तीक्ष्ण दृष्टि से उस रमेश नामधारी को देखने लगा।

मस्तक को आन्दोलित करता गुनगुनाने लगा रमेश—"मेरी उस रूपयानी की तरह। नहीं, वह इससे भी खूबसूरत है। है—है है—है।"

"ठहरो तो रमेश। यह बात तो मैं स्वयं ही जानता हूँ कि है ही। देखो तो सही, हाँ, रूपयानी का रूप इससे मिलता-जुलता है। देखो इधर, है न वह ऐसी ही। और विस्मय ही क्या, कहीं वह इसी फूल में बस तो नहीं रही है।"

एक निविड़ आवेष्टनी में घिरा-घिरा सुनील सब कुछ देखने लगा और सुनने लगा। उस दर्द भरी आवाज़ ने उसे तब अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हाल के दूसरी ओर उसने अचम्भे से देखा। वह युवक उन्मादों का जत्था नहीं, वृद्ध पागलगण गोलाकार से एक चौकी को घेरे बैठे हुए थे। चौकी पर वृहत काँच के पात्र में भरा रखा था—स्वच्छ, शीतल जल। वृद्ध उन्मादी चिल्ला कर कह रहा था—"काली—काली लहरें हैं

पानी में, स्वच्छ-शीतल जल नहीं।"

मृदु-स्मिति से बोला असित का सहकारी—"अच्छी तरह से देखो—स्वच्छ-नील जल है। ज़िन्दगी भी ऐसी ही स्वच्छ, सरल है। देखो न विपिन बाबा, अच्छी तरह से देखो।"

"झूठा, बेईमान, मुझे ठगने आया है, काली-काली लहरों को नीला बतलाता है।" वृद्ध चिढ़ रहा था।

अपने स्थान से उठ कर असित वहाँ तक पहुँचा। बोला—"यह लहरें काली ही तो हैं—काली-काली।"

वृद्ध शान्त हुआ, कहने लगा—"काली-काली"

"काली हैं काली। हमारे विपिनबाबा कहीं झूठ कह सकते हैं।"

वृद्ध–सन्तोष–आनन्द से भर उठा—"वह वेवकूफ़ कहता है—नहीं।

"वह क्या जाने। और अब देखो बाबा, रंग किस तरह से बदल चला।"

परम आश्चर्य से वास्तविक सत्य-दर्शन की भाँति कहने लगा विपिन—"वाह—वाह, देखो—देखो, बदल चला—बदल चला रंग।"

"सफ़ेद हो चली हैं लहरें—अपने जीवन की भाँति सफ़ेद—सुरमी हुई, देखो बाबा।"

"सफ़ेद-सुरमी, ज़िन्दगी की भाँति सफ़ेद।" एक सम्मोहित की भाँति गुनगुनाने लगा विपिन।

"यह कैसा रंग तुमने मचा रखा है असित ?"—सुनील तब तक असित के निकट पहुँच चुका था।

" नहीं। केवल पात्र के हिसाब से उनकी बिगड़ी शिराओं में—रगों में रंग भरने की चेष्टा कर रहा हूँ। और किसी एक दिशा में उनके उत्क्षिप्त चित को बटोरने की है यह एक चेष्टा।"

"वह तो देख ही रहा हूँ, शायद तुम सही रास्ते पर हो"—बात करते करते वह दोनों हाल के एक ओर बैठ गए।

सुनील ने केस से सिगार निकाल कर असित की ओर बढ़ाकर पूछा—"और उन्मादिनी स्त्रियाँ कहाँ हैं ? ?"

"वह स्त्री-कवार्टरों में हैं।"

"मैं सोचता हूँ—एक दिन तुम्हें इस ओर पूर्ण सफलता मिल जायगी। हाँ, यदि इसी तरह पूर्ण मनोयोग इसी पर लगा सको।"

"फिर मेरा मनोयोग अधूरा भी कहाँ लगा है ?"

"कहाँ पूरा मनोयोग है ? उधर मौत को जीतने की धुन, वह धुन तो केवल एक पागलपन है।"

"शायद वैसा न हो। हमीं आदमी से दुनियाँ में नवीन सृष्टि हुई और होती चली आ रही है।"

"ठीक है। आदमी आज तक बहुत कुछ कर चुका है। केवल उस एक बात को छोड़ कर। जो असम्भव है, उसके पीछे क्यों भटकना ?"

"असम्भव भी कैसे"—उत्साह के साथ कहने लगा असित—

"इस घड़ी की ही रीति-नियम के समान समझो। कल पुर्जे बने हैं, हवा दम भर देती है, नाना वर्ण के कीटाणु रस भर देते हैं, तब ज़िन्दगी की घड़ी टिकटिकाने लगती है।"

"और मौत ?"–परिहास से पूछा सुनील ने।

"किसी तरह से वह हवा निकलती है। किसी एक जाति के कीटाणु कमज़ोर हो जाते हैं और तब उस कीटाणु की उपज शरीर में बन्द हो जाती है, हवा तब दूषित होने लगती है, आदमी को तब किसी प्रकार का रोग हो जाता है। हवा के निकलने के लिए जो जगह बनती है, वह जगह एक पल में भी बन सकती है और वर्षों में भी। बात यह है कि वह आवद्ध वायु शरीर से निकल कर जब विश्व में व्याप्त हो जाती है—"

"अच्छा—अच्छा तब उस हवा को मनुष्य में भरने की चेष्टा कर रहे हो ?" बात काट कर सुनील परिहास करने लगा।

उस उलंग व्यंग के प्रति॰ लक्ष न कर असित ने पूछा—आख़िर मौत को तुम क्या समझते हो ?"

सुनील ज़ोर से हँसा—"पागलों के साथ रहते रहते तुम भी पागल हो गए हो।"

"क्यों ?" अनुतप्त स्वर से कहा असित ने।

" वरना यों ऊटपटांग नहीं बकते।"

"फ़ज़ूल बक रहा हूँ ? तुम्हारे ही योगी–ऋषि का नामकरण

है, हाँ—मौत का—'महानिद्रा'। ठीक है, मानता हूँ, घोर निद्रा है मृत्यु, याने जीवन के चिह्न का लोप होना, अचल, शक्तिहीन। जैसे कि आज हैं हम। मौत कई प्रकार की होती है। हँसते हो? तो हँसा करो।"—फिर आँखें बन्द कर कह चला असित—"मृत्यु—शारीरिक, मानसिक, राष्ट्रीय आदि भी होती है। फिर मौत पर विजय पाना? हाँ, उन सभी अंशों पर हो सकता है। उद्देश्य है एक ही, पथ है एक ही। मौत को जीतने के लिए आदमी क्या नहीं करते हैं। अमरत्व है मनुष्य की चिर आकांक्षित प्रेरणा। तो यदि मैंने उसी मौत को जीतने का रास्ता, ढंग कोई एक निकाल ही लिया हो तो उपहासास्पद भी क्यों?"

"किन्तु आदमी मौत को नहीं जीत सकता है असित।"

"नहीं जीत सकता है। पहले कहो, आदमी आखिर है भी क्या?"

"एक जीता-जागता पहेली।"—सुनील मृदु मृदु हँस रहा था।

"पहेली? नहीं-नहीं-आदमी है एक प्राणवन्त आवाज़।"

"आदमी है एक आवाज़ कहते क्या हो?"

"आवाज़ ही। विश्व में मँडरा रही है एक आवाज़, दुनिया का आदिम सत्य है—यह आवाज़। चाहता क्या हूँ? उसी आवाज़ में अपनी भी आवाज़ को भर देना। चाहता हूँ उस आवाज़ की मौत को जीतना।—यही आवाज़ पुरातन युग में जिसे राजा भी सुनता, दरिद्र भी सुनता। वही आवाज़—जिस की उत्पत्ति है सतः स्फूर्ति से। जिसका माधुर्य है रक्षा में, विनाश

में नहीं। संहार में नहीं। उस आवाज़ को सृष्टि में भरना उस के जन्मसिद्ध अधिकारों की है मांग।

आवाज़—आदमी की आवाज़ आज दब मरी है—हाँ विश्व के रण-प्राङ्गण में, उस रक्त-कलंकित संहार में। और जीवन की हरियाली में ? उस हरियाली में दिन-प्रतिदिन पनप रही है एक ईर्षा। मुझे भय है सुनील, वह ईर्षा, वह रक्त की पिपासा नित्य-प्रतिदिन विश्व में जिस प्रकार से व्याप रही है—लगता है इसकी काजलकोर छाया में मनुष्य-सभ्यता का विनाश कहीं न हो जावे किसी एक दिन। और तब जाग कर बैठ जायगी—विश्व में एक दानवीय सभ्यता।

हाँ—हाँ, रखना है उस विश्व-व्यापी ईर्षा पर प्रेम का एक ज्वलन्त अंगार। इस मिटती हुई सृष्टि में यदि एक रक्षा की आवाज़ रखने की कोशिश करे तो वह हास्यास्पद कैसे बन सकता है ? एक से वृहत् की सृष्टि, विश्व का नियम है।"

सिर हिलाता हुआ कहने लगा सुनील—"ठीक है। समझ गया तुम्हारी बातों को। परन्तु सोच रहा हूँ एक बात।"

"वह क्या ?"

"इस विश्व-व्यापी संग्राम की ज्वालामुखी में,—एक मनुष्य की मृत्यु पर जय पाने की धुन।"

"तो ?"

"उस ज्वाला में वह निश्चिह्न हो जायगी या नहीं, विचारनीय है यही। एवं उस ज्वालामुखी में यह धुन का अधिकार केवल

परिहासास्पद बन कर रहेगा अथवा सम्मानित होकर ?"

"चाहे वह कुछ भी होकर रहे। किन्तु एक शुभ चेष्टा-कल्याण की चेष्टा—कदाचित अमर होकर भी रह सकती है। सृष्टि यदि एक बार नाश ही हो जाय तो भी वायु का विनाश असम्भव है, और तब वायु-कम्पन-आवाज़ एक रही ही आवेगी—आवाज़—आदमी की आवाज़।

मानता हूँ, देखता हूँ—विश्व में मौत की होड़ लगी हुई है, बह चला है रक्त का समुद्र, मर-कट रहे हैं मनुष्य—स्वयं-अपने आप, विनाश के बीच सृष्टि दब कर एकश्वास हो रही है। किन्तु यह सब है भी क्यों ?"

"क्यों ?—तुम पूछते हो क्यों, केवल ईर्षा, रक्त की पिपासा।"

"ठीक। पिपासा ही। मानव के सरल-सहज, प्रेमी, स्नेही प्रवृत्ति का गला दबा कर जाग उठी है आज राक्षसी प्रवृत्ति, वह असुर प्रवृत्ति अपनी रुचि के अनुसार, अपनी सभ्यता के अनुसार आगे बढ़ती चली जा रही है, किन्तु एक दिन उसकी बर्बरता उसी को लजा न देगी, उसी को निगम न बैठेगी,—ऐसा भी कौन कह सकता है ? और यह भी कौन कह सकता है कि उस दिन की उठी हुई नवीनतर आवाज़ों में,—पुरातन की एक यह भी आवाज़ अपनी सत्ता को सँभारे-सँजोरे नहीं रही आयगी। सो यह भी कौन कह सकता है कि इस मिटती हुई सी सृष्टि में मनुष्य की आवाज़ का स्थान नहीं है ?"

बापरे-बाप, ब्रेन मेरा तुमने आज खाली कर दिया, आज मैं कहने आया था कुछ और—"

"क्या कहना है ?" हँसकर असित ने कहा।

"कल रविवार है, किन्तु कल मैं यहाँ पागलों को गाना सुनाने नहीं आ सकूँगा।"

"क्यों ? हफ्ते में एक दिन तो गाते हो, उसी से इन्हें इतना लाभ हो रहा है कि क्या कहें। एक दिन आते हो वह भी कल बन्द।"

उसके सुन्न मुख को देखकर सुनील ज़ोर से हँस पड़ा "तुम तो ऐसा मुँह बना रहे हो कि कुछ कहा नहीं जाता। अरे भाई रविवार नहीं तो सोमवार को आजाऊँगा। अच्छा तो आज जा रहा हूँ।" दोनों उठकर बाहर चल दिये।

—:o:—

झर-झर-झर बादल झर रहे थे—जैसे कि अतीत वर्तमान के आँचल में क्रन्दन-लिपि लिपिवद्ध कर रहा हो । आकाश की डेहरी काले मेघों से भरी हुई थी । और पृथ्वी के प्रवेशद्वार पर जब कन्याएँ धरना देकर बैठ गई थी—बाढ़ की नौका लिए वर्तमान को अतीत में एकाकार करने के लिए।

अन्धकारपूर्ण रात्रि के भीतर एक ततोधिक धुन्ध पूर्ण, भग्न प्राय अट्टालिका न कोई वातायन और न रौद्र-वायु प्रवेश का स्थान। सीलन से पूर्ण एक वैसी ही अंधकारपूर्ण कोठरी के भीतर रस्सी की चारपाई पर पड़ी थी सोहिनी । खुले द्वार के प्रति मुँह किए-किए वह वर्षा को देख रही थी। ज्वर-तप्त ललाट पर कभी पवन के झोंखे से वर्षा की बारीक बूँदें आकर गिरतीं। बाकी सब कोठरियाँ भीतर रुद्ध थी।

उस वर्षा की किलकारियों को देखते देखते भ्रमर गुंजन सी गुनगुनाने लगी सोहिनी—बोल मेरे अतीत-बोल-बोल । केवल आज के लिए चार घण्टे का साथी बन जा तू"। —सोहिनी पल भर के लिए मौन रही, देखने लगी वर्षा की ओर, जैसे वर्षा की

बूँदों में उसके अतीत का चित्र-पट निखर आया। कहने लगी वह मृदु-मृदु—"माना कि तेरे पास गुलाल-रञ्जित, चन्दन-गन्वित अमर लिपि है। माना कि तेरे हृदय में युग-युग का इतिहास स्वर्ण अक्षरों में लिपिवद्ध है। और यह भी माना कि ऋषि श्रेष्ठ तू सर्वज्ञ है। किन्तु महान अतीत, वैसा एक तू अतीत, आज केवल कुछ घण्टों के लिए बन जा मेरा साथी। आगे कभी भी तेरे पन्नों को मैं उलटना न चाहूँगी, नहीं पड़ेगी उसकी ज़रूरत। साथी बनने के लिए आगे कभी न पुकारूँगी।

आज—केवल आज, इस बादल भरे, वर्षा झरे दिन में, एक रुग्णा का साथी तू बनजा, केवल कुछ घण्टों के लिए। खोलदे, खोलदे तेरे उस सुवर्ण महल का रत्नद्वार—इस वर्तमान में। पल भर में वहाँ झाँक कर लौट आऊँगी। न मैं उस राजप्रासाद तुल्य अट्टालिका में बसना चाहूँगी, जहाँ सुख-आराम की प्रत्येक वस्तु मनोयोग से चुनी गई हों। दास-दासी आज्ञा-पालन के लिए सदा उत्सुक हों।

न वहाँ ठहरना चाहूँगी—यहाँ समुद्र की लहरें पछाड़ें खाया करती हों—एक हरे उद्यान के पाददेश में। पक्षियों के गान में जहाँ साँझ-बिहान सुर मण्ड़ित हो उठते हों। अस्तगामी सूर्य की रक्तिम छटा जहाँ कपास के फलों को सिंदुर-रंजित कर दिया करती हो, गिलहरियाँ जहाँ लुका-छिपी खेलती फिरती हों। उद्यान-मध्यस्थित गृह-निवासी किशोर-किशोरी के दिन जहाँ लड़ते-झगड़ते बीतते हों।

केवल क्षणभर दृष्टि डालना चाहूँगी अतीत पर, उस गिलहरी के जोड़े के साथ क्रीड़ारत किशोरी पर और निकट उपविष्ट किशोर के मोहक नेत्रों पर।

नहीं ही बसूँगी उस दर्द भरी आह में जो कि स्वयं भी एक अलैया की लौ बन जावे, जो कि काली रात में पेचक की अङ्गार भरी आँख बन जावे, जहाँ एक रुग्णा नारी को कठोर तिरस्कार कर सीमा हीन अन्धकार में ढ़केल दिया जाता हो। जहाँ संक्रामक रोग का भय ममत्व पर विजय पा जाता हो। जहाँ आदमी की आवाज़ मृत्यु के आतंक के नीचे दब मरती हो। जहाँ मनुष्य के आंतक से मनुष्य काँप उठता हो।

नहीं ही रहना चाहूँगी उस क्षय-आश्रम में, यूकलिपटस और पाईन वृक्ष से केलिरत कुआसा के उस रंगीन राज्य में। जहाँ एक यौवन पर मौत की छाया देखकर भी दूसरा यौवन इठला उठता हो। न उस क्षय-रोग-ग्रस्त मज़दूरनी ही से सखीत्व करना चाहूँगी-जो कि अपनी चिकित्सा के व्यय-भार से अशक्त अपने रुग्न शरीर को भी सेवा कार्य में लगा रही हो। न मैं उन निस्तेज, शक्तिहीन, क्लान्त आँखों की और भी देरतक देखना चाहूँगी—जो कि क्षय-आश्रम में काम करते करते रात्रि की निशुथी में निद्रा से झुक पड़ी हों, जिन पलकों में तब भी गत जीवन की आशाभरी मोहिनी छाया व्यापी हो।

नहीं ही उस दृश्य के सामने रुकना चाहूँगी, जहाँ एक रुग्णा के शतछिद्रयुक्त-कीट-दष्ट हृदय का फ़ोटो सुरक्षित हो। जहाँ कि

एक दिन उस फ़ोटो का आवरण हटा कर उसके सामने रुग्णा खड़ी हो गई हो। ठीक सामने, अनेक ही कीट-दृष्ट हृदय के सामने-कीटदृष्ट हृदय स्वयं वह।

सो ज्ञानी अतीत, न मैं उस चोरी में शामिल ही होना चाहूँगी-जहाँ कि रोगिनी अपने उस कीट-दृष्ट हृदय के फ़ोटो पर हाथ बढ़ा रही हो। शंका से चहुँ ओर देखती और फिर हाथ बढ़ाती, जहाँ अन्त तक फ़ोटो वह उठाती, कपड़े के अन्दर छिपा लेती और तब भाग निकलती, न आगे देखती, पीछे-सामने भी नहीं देखना चाहती, भाग निकलती-रुद्धश्वास से।

गाती चली वह तपेदिक की रोगिनी, हृदय को हाथों से दबाकर—उस हृदय को जिसे कि कीटों ने चुनकर झंझरी कर दिया हो। ऐसी वह रोगिणी जाती-भागी चली जाती, दिन और रात, आँधी और पानी से होड़ लगाती। कब उसकी गति रुद्ध हो जाती सो वह स्वयं ही न जान पाती। उस वृहत् अस्पताल को तीक्ष्ण दृष्टि से देखती। न सोचती, न विचारती। डाक्टर के सामने पहुँच कर फ़ोटो को पसार देती।

कहती-"डाक्टर इस फ़ोटो को देखिये।"

कर्मचारी गण विस्मय से उसे देखते, उन्मादिनी जानकर उपेक्षा करते। फिर भी उस आग्रह पूर्ण जिज्ञासा का अन्त न होता— "डाक्टर, कहिये, ऐसी एक रोगिनी कब तक जी सकती है?"

"क्या यह रोगिनी ज़िन्दा है? झूठ। ऐसा मरीज़ नहीं जी सकता है।"

रोगिनी का मुख परिहास की हँसी से भर उठता, और प्रवल अवहेलना की दृष्टि से डाक्टर को देखकर चल पड़ती।

मैं वहाँ ही टिकना चाहूँगी–जहाँ फ़ोटो को हृदय से लगा कर भागी चली जा रही हो। नहीं अतीत, विश्व के किसी भी स्थान पर रुकना न चाहूँगी, रुकना न चाहूँगी, केवल झाँक लूँगी–झाँकती ही चली जाऊँगी। केवल आज थोड़ी देर के लिए साथी बन जा तू मेरा।

न मैं तेरी उस झोली को झाड़कर देखना चाहूँगी जहाँ कि मानव-जन्म का इतिहास भोजपत्र पर लाल चन्दन से लिपिवद्ध हो, नदी नालों के उत्पत्तिकरण में ब्रह्मा का मस्तिष्क ख़ाली हो गया हो। तरु-पलव के मर्म की वाणी जहाँ वट-पत्र पर लिखित हो। हिमालय के पर्वत-कन्दरों की गोपन कथा जहाँ ताम्र-पत्र में लिखित हो। युगों के ध्वंश का विवरण जहाँ–शिला पर अंकित हो और हलदी घाट की रक्त–रंगीन, पावन धूलिकण जहाँ स्मृति की आरती उतारती हो। और विश्व-व्यापी रण का परिणाम जहाँ स्वर्ण-अक्षर में लिखित हो।

सोहिनी की चिन्ता में वाधा पड़ी। उस नीरव निशीथ में कई व्यक्ति निशाचर की भाँति उसकी कोठरी में पहुँच गये।

प्रौढ़–वलिष्ठ व्यक्ति ने पूछा–"अब तबियत कैसी है ?"

"मुझे अब विदा दे दीजिये। अच्छी हूँ।" सोहिनी सहम कर उठ बैठी।

उस आकुल स्वर की ओर लक्ष कर व्यक्ति बोला–"क्या यह

मण्डली तुम्हें अप्रिय है ? और हमारा कार्य भी ?"

"इस बन्द कोठरी में मेरी साँस रुक रही है। दुनियाँ की हवा में मैं रहना चाहती हूँ। "–जैसे उस प्रश्न के उत्तर को वह टाल गई। व्यक्ति अपने साथियों के साथ वहाँ बैठ गया। गंभीर मुख से बोला–"जब कि मण्डली का उद्देश्य ही स्वाधीनता है, तब उसी मण्डली की प्रधाना अपने को बन्दिनी कैसे समझ सकी ? क्या तुम जानते नहीं कि तुम्हारे और मेरे नाम से वारण्ट है ? यदि एकबार पकड़ी जाओगी तो आजीवन कैद में रहना पड़ेगा। विशेष कर ऐसी बीमारी की हालत में बाहर तुम जा भी कैसे सकती हो ? तुम खुद ही जानती हो तपेदिक के कीड़ों ने तुम्हारे लंगस को किस तरह चुन कर चलनी सा बना दिया है।"

"मैं विश्वास नहीं कर सकती।"—अनुत्तेजित स्वर से वह कह चली–"थोड़े कीड़े आदमी के इतने बड़े शरीर को ध्वंश के मुँह में नहीं पहुँचा सकते। मेरे मन की ताकत पर वह जय नहीं पा सकते। गुरुदेव, मैं काम करना चाहती हूँ, काम कर सकती हूँ।"

स्नेह, श्रद्धा से व्यक्ति बोला–"सो मैं जानता हूँ सोहिनी, तुम से इस मण्डली का परिचय आज का तो नहीं है। है वह बहुत पुराना। भूली न होगी-उस असित को, मेरा सब से प्यारा शिष्य असित। उसी ने तुम से मेरा परिचय करवाया था। वह चला गया, किन्तु तुम रही आई। मण्डली को जिस प्रकार तुम ने

कार्यद्वारा तथा धनद्वारा सहायता की है वैसा और किसी ने नहीं किया। बीच में एक लम्बे अर्से तक तुम लापता रहीं। उस समय तुम्हें खोकर मण्डली को बहुत हानि पहुँची।

उस दिन हठात ही तुम्हारा निष्पन्दप्राय शरीर और हृदय से लगा वह एक्सरे प्लेट हमें मिला पथ के किनारे। उठा लाया तुम्हें इस कीट-दष्ट हृदय को लेकर भी तुम काम करती रहीं। तुमने जो जो काम इस बीमारी की दशा में मण्डली के लिए किए, वह काम हम शायद वर्षों में कर पाते। मानसिक शक्ति की साम्राज्ञी हो तुम, सो मैं जानता हूँ। आज कई दिनों से फिर से बीमार पड़ गई हो, ऐसी दशा में कैसे तुम्हें जाने दूँ ?"

सोहिनी मौन रह गई।

"गुरुदेव।"–दूसरे व्यक्ति ने कहा–"क्या आप जानते हैं कि असित अब कहाँ पर है और क्या कर रहा है ?"

गुरुदेव ने केवल स्मित हास्य से उसे देखा, उत्तर कुछ न दिया।

उत्तर दिया दूसरे व्यक्ति ने—"वह उन्माद का एक विख्यात चिकित्सक बन गया है, इसी शहर में प्रकाण्ड अस्पताल खोल दिया है, पचासों पागल वहाँ रहते हैं। जाने कितने ही अच्छे भी हो गए। अस्पताल क्या है एक गाँव ही समझो। बेईमान, उस दिन मुझे पहचाना ही नहीं।"

"यह सब कोई नई बात नहीं है महेश्वर, उसे इंगलेण्ड से आए कई वर्ष व्यतीत हुए।"—गुरू ने कहा।

दूसरे सब गरज उठे—"बेईमान, कपटी, अमीर बनकर अब मण्डली को क्यों न भूले।"

"हम लोग से तो जाने कब से मुलाकात ही नहीं हुई, आप को कभी मिला था सोहिनी देवी ?"—तीसरे ने पूछा।

सोहिनी उस प्रश्न को टालती गई—"वह मौत को जीतने की गवेषणा भी तो कर रहे हैं न।"

निस्तब्ध गति से एक व्यक्ति द्वार पर आकर खड़ा हो गया। व्यस्तता से बोला—"भागो-भागो, पुलिस को इस मकान की ख़बर लग गई है।"

सोहिनी उठकर खड़ी हो गई, उसका जी धड़कने लगा।

गुरुदेव ने शांत स्वर से कहा—"घबराओ नहीं, चोर दरवाज़े से निकल जाओ, पुराने शिव के मन्दिर में इकट्ठे हो जाना।"

"नहीं।"—चलते-चलते सोहिनी बोली।

"क्या ?" चकित गुरू ने पूछा।

"नहीं।" कहा सोहिनी ने दृढ़ता से। उसके बाद उस रात्रि के अन्धकार में सोहिनी निशाचरी की भाँति अदृश्य हो गई।

—:०:—

(१५)

उस भरी सन्ध्या बेला में सुनील ने पूरवी-राग को छेड़ दिया। उन्मादालय में एक उत्श्रंखल रोदन-हास्य, और बेला के साथ गाता हुआ सुनील। किन्तु उस रागिनी का प्रभाव उन्मादालय में आश्चर्यजनक रूप से पड़ा। मानो चुम्बक ने लौह को आकर्षित कर लिया हो। धीरे नहीं किन्तु शीघ्रता से एकत्रित हो गई वह उन्मादालय की टोली, सुनील के निकट–अति सन्निकट।

देर के बाद गान समाप्त कर सुनील ने बेला टेबुल पर रख दिया। उससे प्राय टिकी हुई उन्मादिनी कह उठी–"प्रतीक्षा की घड़ियों को तुम सूनी नहीं कर सकते हो।"

सुनील–चकित-विस्मित–सुनील ने देखा वह उन्मादिनी उस का निरीक्षण कर देख रही है। इससे पहिले सुनील ने उन्मादालय में उसे नहीं देखा था। एक कौतुक से सुनील उसे देखने लगा और देखते देखते उसका जी न जाने कैसी एक अपरिचित व्यथा से भर उठा। पलभर के लिए चित्त अतीत की किसी एक घड़ी में रमने को हुआ, और तब साथ ही सुनील साहस के साथ मन में कह उठा–सब झूठ है, मात्र दुर्बल मन का परिचय।

तब तक घृणा से सिहर-सिहर कर तूलिका दूर हट गई—"दानव, हत्यारा, अब लूटने को आया है ? हूँ-हूँ हूँ।" कोने में खड़ी वह असित और सुनील को घूरने लगी। और फिर एक दम चिल्ला उठी—"छोड़ दे मुझे, क्यों बाँधकर रखा है ? तुम उन्हें ठगो-जो तुम्हारा छल-कपट न समझे। कपट-कपट, अरे बाबा—कैसा अँधेरा। कुछ नहीं दिखता, अन्धकार-अन्धकार। मेरा सुरेश वेदाना चाहता था न। दाना-दाना-दाना दानव-वह दानव था। हूँ-हूँ।"—तब वह मौन हो गई।

तब उस कमरे में थे मात्र तीन व्यक्ति और सिर पर टिकटिका रही थी घड़ी। असित और सुनील निश्चल से थे, दोनों के मन की भावना सुख की असरल रेखा पर प्रकटित थी।

उन्माद अपने जीवन में सुनील ने देखा अनेक का और असित तो उसका विशेषज्ञ ही था। किन्तु सुनील को लगा ऐसा उसने कभी नहीं देखा था, कभी नहीं सुना था। कैसी है यह अद्भुत उन्मादिनी—अलैया की लौसी, एक व्यथित श्वास-सी। लगने लगा सुनील को—उसके मन में एक गंभीर वेदना है, केवल इतना ही नहीं, वरन वह व्यथा है व्यापक, दर्शकों को जैसे वह व्यथा आच्छन्न सा कर कर लेती है।

उस करुण किन्तु मृदु रोदन-ध्वनि से मित्र-द्वय चकित हुए। तूलिका रो रही थी।

असित उसके निकट पहुँचा, बोला—"वेदाना के बिना वह मर रहा है, काली-रात, वेदाना माँग रहा है वह।" तब

धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी—"गाना-गाना।" और फिर हटात सामने आकर खड़ी हो गई—गाना सुनाऊँ ?"

जैसे उसे शान्त करने के लिए असित को सहारा मिल गया—"सुनाओ।"

"कैसा अँधियारा छाया है झोंपड़ी में।"

"गाना सुनाओ—गाना।"

"सुनाऊँ गाना ?"—इसके बाद हटात वह इस प्रकार चुप हो रही—जैसे अपने में शब्दों को बीन-बटोर कर सजा रही हो, उन्हें सौष्ठव युक्त, दर्द की आह में भर रही हो।

उसे शांत होते देख कर मित्र-द्वय बैठ गये।

" अद्भुत पगली है, जैसे एक जीती पहेली हो ।"—रहस्य से नहीं, आत्मगत भाव से असित ने कहा। और सुनील तब न जाने कौन गंभीर विचार में लीन था। एक अस्पष्ट छाया, कोई दीर्घ दिन की घटना कैसे उसके स्वच्छन्द श्वास को रोक रही थी, जिसे कि वह बार-बार अस्वीकार से दूर हटाना चाह रहा था।

"मौत ठहर अभी मत आना।" कमरे के कोने से जैसे कोकिला कूक उठी। सधा हुआ कण्ठ स्वर का वह गान। तब पूर्ण मनोयोग से सुनने लगे मित्रद्वय।

कमरे के अन्दर मौनता में वह लाईन समाप्त हो गई, तूलिका चुप हो गई और जिस पल में सुर की झंकार लोप पाने

को हुई तब फिर वह गा उठी—"मीत ठहर अभी मत आना पिया मिलन को जाना।"

घुमा-फिरा कर एक जीवित व्यथा सी वह गाने लगी उन्हीं दो लाईनों को। संगीत में भरी पीड़ा जैसे उस कमरे में व्याप गई। एक दर्द भरी आह में श्रोताओं का मन न जाने कौन से देश में भटक पड़ा—जैसे व्याकुल पिया के मिलन के लिए एक नारी उनके हृदय के समीप जाग कर बैठ गई हो, युग-युग से हाँ—पिया ही की मिलन-प्रतीक्षा में।

गारही थी तूलिका—पिया मिलन को जाना—"

लगा असित को अदृश्य एक शक्ति जैसे प्रति पल की अभिसार की कथा स्वर्ण-अक्षरों में लिपिवद्ध कर रही हो—जन्म-जन्मान्तर की वह कथा।

सुनील ज़रा सहम कर बैठा—हाँ जाना तो है ही, न केवल उस युग-युग की प्यासी नारी को, जाना उसे भी है। मौत द्वार पर खड़ी है वह, रैन अँधेरा है, सो हुआ करे, तो भी इन सब की उपेक्षा कर जाना एक दिन है ही उसे—पिया के मिलन को।

सिहर उठा सुनील—यह क्या ? हाँ—उस गान में जो एक अदृश्य किन्तु गंभीर, जीवन्त स्पर्श का उद्दाम आकर्षण है,—उसी में तिलतिल कर समा रहा है वह। विस्मय से एक समय उसने सुना उस दर्शन की पोथी के भीतर से युग-युग के प्रतीक्षा-व्याकुल पुरुष की पद-ध्वनि को।

गान की उन दो लाईनों में जैसे जीवन का रहस्य ? प्रतीक्षा

की करुणा-कथा भर कर तूलिका गाने लगी। और उस आकुल प्रतीक्षा से परिचयोन्मुख रह गये मित्रद्वय मौन, मूक, समाधिस्थ से, लगा उन्हें—जैसे कोई निर्मोही उस उन्मादिनी को प्रतीक्षा में नदी-तीर पर बैठा कर अदृश्य हो गया है। और आशा-आश्वास, एक दृढ़ विश्वास लिए वह नारी वर्ष के बाद वर्ष प्रियतम की प्रतीक्षा में बैठी है, बैठी रही आवेगी, मृत्यु के बाद भी।

उन दो लाईनों को बार-बार गाकर एक समय तूलिका चुप हो गई।

"पूरा करो इसे तूलिका, अधूरेपन में उस करूण कथा को रखकर तुम उस अधूरे को शेष भी कैसे कर सकोगी? पूरा तुम्हें इसे करना ही पड़ेगा। गाओ—इसे पूरा करो।" असित ने अपने नींद से भरे नेत्रों को अर्द्ध उन्मुक्त कर कहा एक आग्रह से, उत्सुकता से, कहा एक अविनय से।

तूलिका ने एक बार अवहेलना से उसे देखा, कहा—

"पूरा करूँ? हिः हिः हिः, किन्तु क्यों? तुम हटो। पूरा है उनके लिए। उन्हें सुनाऊँगी।"

"उन्हें? कौन हैं वह" असित ने पूछा।

"तुम उन्हें नहीं पहचानते थे? और तुम्हीं सुनना चाहते हो पूरे गान को? वह हैं-मेरे वह, उन्हीं के लिए सहेजकर रख छोड़ा है गान को। सुनाऊँगी उन्हें।" वह सिर हिला-हिलाकर कहने लगी और फिर एक समय उठकर खड़ी हो गई। आर्तनाद

कर कहने लगी–"सुरेश मेरा बेदाना चाहता था न।" –उसके बाद सहसा ही गा उठी—

"झूठा है संसार।"

उसे बाहर जाते देखकर असित ने रोका–"आँधी चल रही है, पानी की बूँदें आ रही हैं। ऐसे वक्त पर तुम कहाँ जा रही हो तूली ?"

अविश्वास से वह उसे घूरने लगी। बोली–"हटो-हटो, रास्ता छोड़ो। इस आँधी-पानी में अकेला वह कैसे रहेगा ? एक दाना बेदाना के लिए आशा लगाकर बैठा है मेरा सुरेश। सुरेश-सुरेश। हटो-हटो।"

किसी प्रकार उसे कमरे में पहुँचाकर वे दोनों चल पड़े। एक गंभीर उदासी से सुनील ने पूछा–"इस अनोखी उन्मादिनी को कहाँ पाया ?"

"लम्बी कहानी है, फिर कभी सुनाऊँगा। तब मौनता से भरे एक ने दूसरे से विदा ली।

—:o:—

दुनियाँ के आदिम सत्य को सँजोरे प्रकृति नित-नवीन रंग की पिचकारी से दिग-दिगन्त को रंगा करती। अपराह्न की नवोढ़ासी बेला में राम-धनुष का रंग भर उठता। वह सातों रंग धरती के आँचल में चू से पड़ते–बूँद-बूँद कर। स्वप्न की छाया में बस कर, इठला कर, मस्ताकर। कोई उस विचित्रता में आच्छन्न हो रहता। कोई उन रंगों की अन्तर-निहित वस्तुओं को प्रतिभा की किरण में चमकाता।

ऐसी एक थी वह सतरंगी बेला, उस बेला में पहुँच गया सुनील उन्मादालय में। भृत्य ने कार पर से वार्यालिन उतार लिया? कई रविवार बीच के निकल गए वह नहीं आ पाया था। दीर्घ अनुपस्थिति-हेतु लज्जित, संकुचित सुनील हाल में पहुँचा। तब वहाँ पागलों का ख़ासा मेला लगा हुआ था। हाल में जाने कितने ही टेबिलों पर बड़े बड़े काँच के केसों में हरी हरी पत्तियाँ, पेड़-पौधे रखे हुए थे। उन पर अनेक विचित्र तितलियाँ बैठी काँप रही थीं। टेबिलों को घेर घेर कर पागलों का झुण्ड।

असित प्रत्येक टेबिल पर घूम-घूम कर उन्हें कह रहा था–

"इस वेलवेटसी तितली के शरीर पर लाल-पीले-विचित्र छींटे, देख रहे हो रतन लाल ? समझ रहे हो ? आखिर यह है क्या ?"

"मकड़ी है, जाला है, कालीरात है।"

"वह तो है ही। हाँ उस कोने के टेबिल पर है, वहाँ हम पीछे चलेंगे।"

"चलेंगे-चलेंगे।" –पागल चिल्ला उठे। उन्हें शान्त कर असित ने कहा–"देखो उस तितली के नरमवेलवेट की तरह हमारी ज़िन्दगी है।"

"है-है–"। कुछ पागलों ने कहा।

"देखो इन लाल रेशमी कीड़ों को, ऐसी ही लाल है-हमारी ज़िन्दगी। खुशी में भरी लाल-लाल, और हरे यौवन में मस्त।"

सुनील असित के निकट पहुँचा और स्मित हास्य को मुँह में रोके हुए बोला–"और यह है ज़िन्दगी का क्रोध।"

असित हँस पड़ा–"छै महिना गायब रह कर अब आए हैं मज़ाक बनाने को।"

"तो यार, फिर वही तो कह दिया न, कि यह है ज़िन्दगी का क्रोध ? लो हाज़िर हूँ। जितना चाहो गुस्सा उतार लो। मुँह से चूँ तक नहीं करने का।"

"बहुत नुक्सान पहुँचाया तुमने।"

"क्या करूँ, काम ही ऐसा आन पड़ा।"

"उन हानि को मैं ही पूरा कर दूँगा। सप्ताह में अब दो दिन।" प्रसन्न स्वर से असित ने कहा–"ऐसा तो होना ही था।"

"क्यों, क्या मुझ पर तुम्हारा कोई अधिकार भी है ?"

"सो भी साफ़ कहना है ?"

"है ही।" –सुनील हँस रहा था।

"अधिकार है मेरा–एक अत्याचार के रूप में।"

"अत्याचार ?"–स्नेह-प्रेम से सुनील का हृदय प्लावित हो उठा, कहा–"यदि यह अत्याचार ही है, तो इतने दिनों तक जिसने सहन किया था, आज भी वही सहन कर लेगा, ऐसी भी कोई बात है ?"

"सो तो है ही।"

सुनील मुसकराया बोला–"तो यहीं वायलिन लेकर बैठ जाऊँ ? देर से पागल तो हैं यहाँ।"

"बैठ जाओ।"

बैठकर सुनील बेला का सुर बाँधने लगा। चहुँओर देखते देखते एक समय पूछ उठा–"और वह, कहाँ है वह ?"

"किसे पूछ रहे हो ?"

"वही–वह पगली।"

"तूलिका को पूछ रहे हो ?"

"हाँ।"

"कई दिनों से उसने मौन अवलम्बन कर लिया है।"

"मौन ?"

हाँ। कभी तो खूब बोलती है, कभी ऐसी चुप्पी साध लेती है-कई दिनों तक जैसे जनम की बहरी-गूँगी हो। कई दिनों से

उसने चुप्पी ही साध ली है। एकान्त में रहती है।"

सुनील ने और कुछ न पूछा। गान आरम्भ कर दिया। तन्मय सुनील आँखें बन्द कर गाने लगा। आँखें जब उसने खोली तब पाया तूलिका को अपने समीप। अखण्ड मनोयोग से वह गान सुन रही थी।

सुनील गा रहा था–"जब से बिछुड़े बालमा, जिया तरसत है तुम्हरे दरश को।"

सुर को वायु तरंग में भर कर सुनील ने देर के बाद गान शेष कर दिया।

और उसी पल में जैसे सुर के व्यंग कर पगली हँस उठी—"हिः हिः हिः तरसना, सपना, रैनन का सपना। चाँद तरसे, तारा तरसे, मैं तरसूँ और वह तरसे। तो क्या?"—फिर धीरे धीरे कहने लगी–"वह था निर्मोही, झूठा, नहीं आया, नहीं आया, उस काली रात के कोर में बँधी एक निद्रालीन, शान्तिहीन प्रतिज्ञा। वह एक सपना, वह एक सपना।"

"तूलिका।"

वह-कमरे के ऊपर को देखने लगी और धीरे धीरे उसके नेत्र व्यथा से भर उठे, आतंक नेत्रों को विस्तारित कर दिया। वैसे ही वह कहने लगी–"आँधी-पानी, बापरे बाप, उड़ीं उड़ी वह झोंपड़ी आँधी से। गुलाब का फूल सा मेरा बच्चा। जायगी–उड़ जायगी झोंपड़ी। आँधी में वह दानव का राजा। बचाओ–बचाओ।"

"सुनो तूलिका।"

वह निराश व्यथा से कह उठी–"नहीं आए तुम ? नहीं-नहीं मेरा सुरेश।" दोनों हाथों से जैसे उसने किसी को समेट कर अपने हृदय से लगा लिया।

स्तम्भित सुनील उसे देखता रह गया। देखते देखते अतीत की एक अस्पष्ट छाया नेत्र समीप प्रतिभासित हो उठी। उस छाया के साम्राज्य में बैठा सुनील कुछ क्षण के लिए तन्मय हो गया। निपट काली यवनिका धीरे हिल उठी, और हट गई। स्मृति के टुकड़े बिखर पड़े जहाँ रुग्णा नारी अपने रुष्ट-यौवन की आरती साजे प्रियतम की आरती उतार ने में लग गई। प्रियतम के प्रथम चुम्बन के सिहरन में अपने यौवन की होली जला बैठी। एक दिन के उल्लास के मोह में अपने यौवन को निचोड़-निचोड़ कर भरने लगी–प्रिय ही के सन्तोष के लिए।

और उसका प्रिय ? –विचारने लगा सुनील–उसने प्रिया का अर्घ लेकर भी सन्तोष न किया। पर न उसे रिक्त, सर्व शान्त कर अपने वीरत्व, प्रभुत्व का चिन्ह उसे दे दिया। कदाचित वह वीरत्व सन्तान-दान के रूप में रहा हो। और तब दारिद्र की टोकनी उसके हाथ में थमाकर चल पड़ा हो दिग्विजय करने को।

चलने की बेला में उस पर्णकुटीर के द्वार पर खड़े होकर उस लुटी हुई नारी के प्रति शायद उसने एकबार देखा। कदाचित कह भी उठा–"मिलूँगा मैं फिर।"

और उसके बाद ? नहीं-नहीं, कुछ नहीं, कुछ हो सकता नहीं। उस एक दिन की छोटी-सी ज़िन्दगी का विनाश उसी एक दिन में नहीं वरन उस तुच्छ घड़ी ही में हो गया था। शिशुकाल का विवाह, गुड़ियों का खेल। सो उस खेल का भी खेल ही खेल में अन्त हो गया और तभी न एक दिन नदी की बाढ़ ने उस ग्राम का चिन्ह तक मिटा कर खेल का अन्त कर दिया।

सो उस एक दिन की बात ? थी वह अनहोनी, हटात, सहसा वह घटना। विचार तक करने का समय नहीं रह पाया था तब तार पाकर पहुँच गया था वह गाँव में, हाँ उस गुड़िया के रुग्ण-शय्या के सिरहाने, और तब–अरे यह कैसे क्या सोचने में लग गया है वह दार्शनिक ? सब झूठ। सब खेल। और तब सुनील सीधा होकर बैठा। हँसकर बोला–"तो अब इन पागलों के बीच में और इस उन्मादिनी की ऊटपटांग बातों में उलझे रहना पड़ेगा या घर जाने की आज्ञा मिलेगी ?"

गंभीर मुख से असित ने कहा–"पगली ? किन्तु मुझे लगता है, सुनील, विश्व का कोई भारी आघात हृदय में लिए वह बैठी है। कभी ऐसा लगता है कि यह पागल नहीं है, जीवन के सब से बड़े दुःख, वृहत जानकारी के आमने-सामने खड़ी होकर जैसे उन दोनों से यह परिहास करने में लगी हुई है। कभी तूलिका ऐसी ज्ञान की बातें करती है कि सोचता हूँ कोई महा-ज्ञानी है, दुनियाँ के सब कुछ को समझ गई हो देख चुकी हो। और सार वहाँ का पहचान चुकी हो। कभी देखता हूँ यह

वास्तविक ही पागल है। किन्तु इतना तो सही ही है कि इस बहुत बड़ा धोखा, दुःख दिया गया है।"

सुनील चुप रहा।

"तुम क्या सोचते हो सुनील ?"

"मैं ?" –सुनील सिहर उठा। सीधा सरल उत्तर देने जाकर भी वह दे न सका। अकारण ही हँसने लगा–"मैं-मैं।"

विस्मित असित ने देखा सुनील की स्वाभाविकता जैसे बालक के अभिनय में भर उठी है।

तूलिका का स्वर बाहर की दालान में सुन पड़ा–"सपना–सपना, रैनन का है सपना।"

अति व्यस्तता से सुनील चल पड़ा–"देखो तो सही–आज मुझे"–बाकी के शब्द उन्मादियों के कोलाहल में दब रहे।

वह ऐसे सहसा, ऐसी जल्दी चला गया कि असित उसे द्वारतक पहुँचा भी न सका। असित ने एकबार उस ओर देखा फिर अपने काम में लग गया ?

—:o:—

I love most of daughters of other mens

यद्यपि समुद्र मथकर सुधा का कलश निकाला था, किन्तु समुद्र के तल का वह विराट अन्धकार फिर भी नहीं निकल पाया था। वह अन्धकार धरती पर निकला था उसी एक रात्रि के द्वितीय प्रहर में।

जन-मानव-हीन राज-पथ, सूचिभेद्य अन्धकार। उस अन्धकार को मानो आलिंगन करती सी भागी चली जा रही थी सोहिनी। इस प्रकार जैसे शाणित खड्ग के मुख से बचकर बन्दी भागा चला जाता है—उस अनुसरणकारी से बचने की होड़ लगाकर।

सोहिनी भागती। पल-पल में आतंक भय से रोएँ खड़े हो जाते, शरीर में कम्प होने लगता, हृदय का दर्द बढ़ जाता, अशक्त शरीर अवश होता। अन्धकार में आँखें गड़ाती और पुनः गति द्रुततर करती भागती, रुकती, वृक्ष से कभी टकरा जाती, घण्टों बेसुध पड़ी रहती, चेतना पाती तब अपना ही हाथ देह पर पड़ जाता और आतंक से सिहर कर पल भर में हिम-शीतल हो जाती, निश्चित विचार पर पहुँच जाती, पकड़ ली

गई है, पहुँचा दी जायगी कारागार के अन्धकार में, है न वह राज-द्रोहिनी है, पहुँचा दी जायगी कारागार में जहाँ विश्व की स्वच्छ वायु की पहुँच तक नहीं। मुट्ठी भर उजाला भी दुर्लभ है, हृदय का श्वास पल-पल में रुक रहा है, और रुक ही जायगा जहाँ, कीट-दृष्ट किसी एक छोटे पल में। अपना आदमी कोई नहीं रहेगा, एक अकेली रात में, एक अकेली वह, पिपासा के लिए बून्द भर पानी तक नहीं, रुक जायगा उस का श्वास पल भर में, उन्हें देखे बिना ही चल बसेगी वह।

और ? सो उसका चला जाना, हाँ, उन्हें देखे बिना ही उसका चला जाना, जिन की कि याद में, चाह में, स्मृति में, उस के रक्त का शेष-बिन्दु तक हरा हो रहा है। जिनकी तुष्टि जिनका प्रिय कार्य है—उस देश-सेवा को अपने मत के विरोध में भी उसने अपनाया, ऐसी एक का चला जाना, संसार से चिर विदा लेना, उन्हीं से रह जायगा गोपन। वह अन्धकारपूर्ण कारागार—सोहिनी की विचार-धारा बाधा प्राप्त हुई—शृगालों के चीत्कार से।

सोहिनी सहम कर उठ बैठी। नहीं अब वह बन्दिनी नहीं है। आँखें गड़ाकर अन्धकार में देखना चाहने लगी। देखते- देखते लगा उसे उस अन्धकार में लौह-बेड़ियाँ हाथ में लिए पुलिस उस की ओर बढ़ती चली आ रही है। और तब पैर उस के हो उठे दस मन भारी। आर्त चीत्कार से हृदय हाहाकार कर उठा—बचालो उसे, बचालो, नहीं-नहीं, वह

कारागार में नहीं जाना चाहती है, नारी वह-नारी ही की भाँति घर-गृहस्थी करना चाहती है, विश्व की सेवा वह करना अवश्य ही चाहती है, परन्तु इस प्रकार से नहीं।

तो छोड़ ही क्यों न दे उस मण्डली को? मनुष्य की दृष्टि से कब तक बचती फिरेगी, वही रात की भयानक वेला में, आतंक से काँपती हुई कब तक मण्डली में मिला करेगी वह? जिस काम से जी दूर हटकर रहना चाहता है, उसी में फँसी कब तक रही आयगी वहीं। नहीं, नहीं, वह अब यह सब कुछ न कर सकेगी।

सोहिनी के नेत्र स्थिरनिश्चय पर पहुँचते-पहुँचते फिर भी अन्धकार में आबद्ध हो रहे। इस सूचिभेद्य अन्धकार में वह सिन्दूर-रंग से किसका चित्र अंकित हो रहा है? वह-वह, हाँ, असित ही तो है न वह, असित उसका असित; अति प्रिय थी न वह मण्डली असित को और कदाचित अब भी है।

फिर वह उनका प्रिय कार्य न करे? विस्मय, हतश्रद्धा से सोहिनी भर उठी। आज एक ऐसे दिन में—जब कि दृढ़ विश्वास से निश्चिन्त हो रही थी वह—अपनी सत्ता के विषय में। निश्चय पर पहुँच चुकी थी वह कि अपनी सत्ता को असित की सत्ता में संजोर कर रख चुकी है, तब यह कैसा एक अन्ध-पवन बह निकला उसी के हृदय के किसी एक गोपन अंश से?

ऐसी एक है वह? ऐसी कापुरुष? विचार उठा और उठता

ही चला गया। नहीं--नहीं, असम्भव है, झूठ है, पल भर का प्रलय ही सब कुछ नहीं हो सकता, नही ही दृष्टांत है वह स्वयं। हृदय कीटों ने चुन लिया है, तो भी वह जीवित है, जैसे ज़िन्दगी से होड़ लगाकर, ज़िन्दगी के लिए जैसे वह ज़िन्दगी को जिला रही हो; भूल गई है मृत्यु को, मृत्यु उसके सिरहाने खड़ी है फिर भी उसने उसे अस्वीकार कर दिया, करती रही आयगी, सो ऐसी एक वह कापुरुष भी कैसे ?

सोहिनी पैर बढ़ाती आगे चली जा रही थी—एक दृढ़ता से गति को संयत किए चली जा रही थी वह बढ़ती। भोर के धूमिल प्रकाश में सहसा वह खड़ी हो गई पथ पर, तो वह कहाँ ? उस भोर बेला के प्रति सोहिनी ने आँख उठाकर देखा, गंभीर दीर्घ श्वास वह निकला, तो ऐसी एक बड़ी-सी दुनियाँ में उसके लिए जगह है भी कहाँ ?

फिर चलूँगी क्यों न उन तक ? सोहिनी हँसी-धीमी मधुर वहीं। ज़रा हटकर उसने अपनी पोटली खोली, उस में से मर्द के कपड़े निकाल कर पहन लिये। अपने उस हृदय के एक्सरे प्लेट को दृष्टि सँभाल कर देखा तब उसे यत्नपूर्वक पोटली में बाँधा, फिर रेशम से दीर्घ केश-राशि को ऊपर उठा चूड़ा करके बाँधकर पगड़ी बाँधी। हँस कर चल दी।

पहुँच गई उन्मादालय के सामने, खड़ी कुछ सोचती रही और इस के बाद अन्दर प्रवेश किया।

दुनियाँ के परदे पर बैठी निशादिन की भाँति 'वह चम्पक

वर्ण की कन्या माला गाँथा करती, शत छिन्न सूत्रों को जोड़ जोड़ कर असीम मनोयोग से गाँथा करती वह माला, विश्व की फेंकी हुई वस्तुओं को लेकर, अतीत और वर्तमान के पलों को समेट कर वह गाँथा करती बैजयन्ती माला, उस के घर फेका कुछ भी नहीं जाता। गाँथ रही थी—वह कन्या अलक्ष में बैठ कर माला।

वैसी एक बेला में सारी रात गवेषणा में बिता कर भोर बेला में दालान पर आकर खड़ा हो गया असित। भोर की जीवन मय वायु में खड़ा होकर वह रात्रि-जागरण की क्रांति मिटाना चाहने लगा। उन्मादालय के दास-दासी तब भी गंभीर सुषुप्ति में मग्न थे, केवल माली ने उठकर गेट खोल दिया था। वह बुलबुल की जोड़ी तब उद्यान-वृक्ष पर बैठी प्रातः वन्दना में लग चुकी थी, नित्य की भाँति वह चील आज भी डाल पर बैठ चुकी थी। और तब किशोर रूप धारिणी सोहिनी पहुँच गई उन्मादालय में, उद्यान-पथ पार करती। दालान में सीढ़ियों को लाँघती पहुँच गई वह उस दालान में, असित के ठीक सामने।

असित ने आँखें उठाकर देखा, उस के नेत्र-पल्लव तब भी भारी हो रहे थे। हाथ-पैर पत्थर जैसे बोझीले। उन अधखुले नेत्रों के सामने उस तरुण की निर्निमेष दृष्टि जैसे फाग की मादकता से भर सी उठी। एक निविड़विस्मय में जकड़ी हुई असित की आँखें उस तरूण मुख पर आवद्ध हो रहीं।

एक तन्द्रा में आच्छन्न से असित को अनुभव हुआ वह तरुण युग-युगान्तर से उसका परिचित है और हृदय के रंधों में जागकर बैठा हुआ है। शरीर में रोमाञ्च होने लगा और पल भर में उस गवेषणापूर्ण, समाहित चित्र में जैसे महा प्रलय हो गया; उस ध्वस्त, मथित चित्त में एक अस्पष्ट स्मृति भटकी फिरने लगी, और एक व्यथातुर आह वहाँ शतछिन्न होकर लोट पड़ी।

उद्भ्रान्त सा असित कह उठा—"तुम ?"

"मैं काम के लिए आया हूँ, महाशय।"

उस स्वर से असित का हृदय विनत हुआ, कह उठा वह आत्म-विमृत-सा—"और गिलहरी के वह जोड़ा ? उन्हें कहाँ, रख आई हो ?"

"आप क्या कह रहे हैं, महाशय ?" आगत आँसू को रोकने के लिए सोहिनी ने मुँह फेरा।

असित ने झटके दे दे कर अपने हाथ-पैर सीधे किए—यह कैसे सपने ने उसे घेर लिया है ?

मौत को जीतने वाला वह और इतना दुर्बल चित्त ?

"काम करना चाहते हो ?"—सहम चुका था असित।

"जी हाँ।"

सोहिनी चुप रही।

"कब से करना चाहते हो ?"

"आज अभी से।"

"लिखे-पढ़े हो ?"

"कुछ थोड़ा सा।"

"चलो।"

उसे लेकर असित गवेषणागार में पहुँचा। एक इंगलिश की पुस्तक उसके सामने रख दी।

"इसे पढ़ सकते हो ?"

सोहिनी को पुस्तक पढ़ते देखकर असित अत्यन्त प्रसन्न हुआ "बस-बस इतना बहुत है। एक ऐसे ही की ज़रूरत थी मुझे। तुम मेरे प्रधान सहकारी बन सकोगे। तुम उस कोने के कमरे में रहो।" तब ज़रा विचार कर असित ने कहा—"नहीं, उसमें नहीं, ठहरो, हाँ–उस कमरे में मैं सोता हूँ, -बस उसी के बगल वाले कमरे में तुम रहो।"

सोहिनी को साथ लेकर असित कमरे दिखलाने लगा।

"मुझे काम समझा दीजिए।"

"सब कुछ हो जायगा। अभी अपना सामान आदि रखो। स्नान-भोजन करो, तब काम समझना।"

"मैं स्वयं अपने-आप का सामान हूँ।"

चलते से असित रुका, आश्चर्य से पूछा–"कुछ भी साथ नहीं है ? विस्तर, सूट केस ?"

"नहीं फिर ज्यादा की ज़रूरत भी क्या है ?"

"ठीक-ठीक। हम और हमारी स्वाधीन इच्छा। बहुत है। यथेष्ट है। इससे ज्यादा ज़रूरत भी क्या ?

असित को यह लड़का इतना अच्छा लग गया कि वह नित्य नैमित्तिक कर्मों को भी भूल गया। असम्भव भी उसके लिए सम्भव हो गया। शिशु-सा सरलता से पूछने लगा—"बस मित्र यही तो चाहिए। हम और हमारी स्वाधीन इच्छा, सामान की ज़रूरत भी क्या ? हम सब स्वाधीन इच्छा के पुजारी हैं। स्वाधीन इच्छा को साथ लिए जंगल में भी रह सकते हैं। क्या ज़रूरत है हमें बिस्तर की ? पान-भोजन की ? मित्र मेरे—"

सोहिनी गंभीर होने को जाकर हँस पड़ी—"मेरा नाम सोहिनी है, मित्र नहीं।"

"किन्तु मेरे तो मित्र ही हो न। मान लिया है आज से मैंने मित्र। बस मित्र ही।"

"मित्र ?"

"हाँ—मित्र। तुम बहुत अच्छे हो मित्र।"

"अच्छाई और बुराई"—ज़रा रुककर कहने लगी सोहिनी—"उसे जानना, पहचानना इतना सहल नहीं है। मैं सोचती हूँ—मौत के दिन तक हम उसे पहचानने में ग़लती कर बैठते हैं। आदमी का पहचानना इतना सरल नहीं।"

"ऐसा अविश्वास ? नहीं मित्र। मैं कहता हूँ एक छोटे पल में आदमी के जन्मजन्मान्तर का परिचय मूर्त हो उठता है। जैसे कि अभी एक छोटे पल ने तुम्हारा परिचय मेरे पास जीवन्त कर दिया। ज़ोर के साथ कह सकता हूँ तुम उस काम के योग्य हो। जिसकी कि मुझे ज़रूरत थी।"

"ऐसा नहीं है, हो नहीं सकता है।"—एक अखण्ड अविश्वास सोहिनी के कण्ठ में आकर विशिष्ट हो बैठा।

"कौनसी बात"

"यही पहचानना मनुष्य का, परिचय वह एक पहेली ही है। युग-युग की पहेली उसमें भरी पड़ी है। एक घूर्णावर्त है आदमी का मन। उसी भँवर में रमा वह घूमता रहता है—हाँ अविराम घूमता रहता है। वह स्वयं अपने को पहचान नहीं पाता है—जिन्दगी के अन्त तक। दुनियाँ के पलों में वह रमा हुआ है। कौनसा छोटा पल उसके जीवन में कौनसे दृश्य को, कौनसी घटना को सत्य कर बैठेगा, सो वह कुछ नहीं जानता। जान सकता ही नहीं, तब दूसरे को पहचानना कैसा? किसी पर विश्वास करना ऐसा सहज नहीं है।"

विराग से असित ने कहा—"तो तुम मुझे दुनियाँ ही पर अविश्वास करने को कह रहे हो? किन्तु उसके बाद, का भी कुछ सोचा है तुमने?"

"क्या?"

"नहीं भी कैसे? दुनियाँ का अविश्वास करने वाला मैं, फिर अपनी उस आवाज़ पर, स्वाधीन चिन्ता पर विश्वास भी कैसे कर सकता हूँ? और एक अविश्वासी आत्मा को लेकर दुनियाँ में विश्वास की आवाज़ भी कैसे भर सकूँगा? मौत को जीत भी सकूँगा कैसे?"

"तुम-तुम कहते हो गुरुदेव।"—एक सहज आकर्षण,

सरल अपनापन किस अनायास सहज, सरल गति से सोहिनी के कण्ठ में ध्वनित हो उठा, सो वह दोनों जान नहीं पाए।

वैसे ही कह चली सोहिनी—"कि अविश्वासी—कभी-विश्व में अपनी आवाज़ को जीवित नहीं रख सकता है?"

"नहीं ही सोहन।"

सोहिनी चुप रही। देर के बाद उसने कहा—"तो अब चलूँ न अपने कमरे में?"

"जाओ।"

असित चुपचाप टहलने लगा।

—:o:—

भोर के रजत-शुभ्र मुहूर्त में सोहिनी उठती, उद्यान की एकान्त पुष्करिनी में स्नान कर राशिराशि कुञ्चित केशराशि को सुखाती। श्वेत बगुले की टोली उसके सिर पर से निकल जाती और वह वयःबृद्ध बगुला पुष्करिनी के सोपान पर बैठा नित उसका साथी बना रहता। वृक्ष-पल्लवों में बैठी बुलबुल के झुण्ड में जागरण की आवाज़ भर उठती।

लता-कुञ्ज की आड़ में दबी हुई सोहिनी बाल सुखा रही थी, भोर की शीतल हवा उसके शरीर में स्फूर्ति भर रही थी उसने आकाश की ओर मुँह उठाया, तब बगुले की टोली दूर निकल चुकी थी। सोहिनी ने मुग्ध हो विस्मय से देखा—आकाश की तलहटी में जैसे गुच्छ-गुच्छ काश के फूल तैरते चले जा रहे हों।

हटात उसे लगा—यदि वह भी इस टोली में मिल जा सकती ? यों ही उषाके प्रकाश में, भोर की वायु में स्नान करती हुई श्वेत पद्म की भाँति अनरुद्ध, अवाध गति से वह भी दुनियाँ के सिरहाने तैरती फिरती ?

परन्तु ? हाँ, परन्तु तब कहाँ रहता जीवन का यह वास्तविक, निर्भय, कठोर सत्य और उस सत्य के ठीक सामने खड़े होकर उस सत्य को पहचानने का ऐसा वास्तविक परिचय ? उसकी हलकी खुशी में यह वास्तव का परिचय है भी कहाँ ?

सोहिनी ने फिर आँख उठाकर देखा। बगुले की टोली तब दूर निकल चुकी थी। गंभीर श्वास हृदय को व्यथित कर निकल पड़ा। भीत नेत्रों से उसनें आकाश की ओर देखा। दिन का प्रकाश तब भली भाँति फैल चुका था। वह काँप उठी। नहीं, वह अपने स्वाभाविक, सहज परिच्छेद में भी नहीं रह सकती है। पुरुष के छद्म आवरण के भीतर उसको छिपकर रहना पड़ेगा। संसार को धोखा देना पड़ेगा। हाँ, उसी को। ईश्वर ने जो अनुपम रूपराशि उसे दे रखी है। उसे छिपाना पड़ेगा। प्रतारणा करनी पड़ेगी, संसार के साथ और कदाचित अपने-आप से भी। यही है उसकी अदृष्ट लिपि। सो जिसके लिए यह असाध्य साधन है, वह निर्मोही—। सोहनी सिहर उठी—छिः, यह क्या से क्या सोचने को बैठ गई है।

क्या प्रत्येक श्वास में वह रमे हुए बैठे नहीं हैं ? प्रीतम—उसके प्रीतम।

वह मौत को जीतने की धुन में उन्मादी-सा एकनिष्ठ साधक ? प्रीतम—उसका प्रीतम।

परन्तु उसकी यह साधना यदि किसी नारी के लिए होती,

तो-क्या-वही उस पर श्रद्धा कर सकती ? सो वह साधक—सोचती हुई सोहिनी उस एकान्त में भी मुसकरा पड़ी—मिथ्या वह साधन, झूठा वह साधन, अन्धा वह तपस्वी। नहीं भी कैसे ? क्या वह देख नहीं पाता-स्वयं वह मौत को जीतकर एक तपस्विनी के हृदय में आकर अमर बना बैठ गया है ? फिर आज यह मौत को जीतने की तपस्या कैसी ? अन्धा है वह—अन्धा-अन्धा।

मुसकराती सोहिनी उठी। बालों को समेट कर जूड़ा कर माथे पर बाँधा। व्यथा से उसका जी भर उठा, मुख नीलवर्ण पड़ गया। वह सब कुछ कर सकती है, सब कुछ सह सकती है, हाँ अपने शरीर में असुर-तुल्य शक्ति भी भर सकती है, केवल सहन नहीं कर सकती है इस छद्म आवरण को। यह पुरुष का वेश। नारी बनकर दुनिया में आई है, नारी बनकर ही वह रहना चाहती है। बस इतना ही।

पगड़ी बाँध, पाजामा, सर्ट, कोट सब पहन कर, एक छोटे से दर्पण में अपने को देखने लगी। हँसी उसके मुँह पर फूट पड़ी।

"अरे सोहन तुम यहाँ ?"

आवाज़ सुनकर सोहिनी लौटी, असित पर दृष्टि पड़ते ही वह सिहर उठी—कहीं उसका वेश बदलना उसने देख न लिया हो ? तब तक असित निकटतर पहुँच चुका था—"यह क्या, तुम काँप क्यों रहे हो, मित्र ?"

"मैं ? नहीं तो।" सोहिनी सहम चुकी थी।

"और मुझी से झूठ ? डर गए थे ?"

जैसे सोहिनी को सहारा मिल गया—"हाँ गुरुदेव।"

असित हँसने लगा—"इसी मनके बल पर मेरा साथ दोगे ? एक अचानक आवाज़ ही से डर गये, फिर दुनियाँ में आवाज़ को भरकर रख भी कैसे सकोगे ?"

"चेष्टा तो करूँगी ही न। आप भूल कर रहे हैं। ठीक मैं डरी नहीं, नहीं थी। शायद चौंकी होऊँ।"

"अच्छा यह तो कहो यहाँ छिप छिपकर क्या कर रही थी ?"

"उपासना।"—मुँह को असम्भव गंभीर कर उसने कहा।

"किसकी ?"

"अपने आराध्य की।" कहते समय उसका स्वर कम्पित हुआ।

"ज़रा ठहर कर सोहिनी ने पूछा—"और इतने सवेरे आप यहाँ क्या कर रहे थे ?"

"मैं ? ब्रेन को ताज़ा कर रहा था इस ठण्डी और ताज़ी हवा से। रात भर की अनिद्रा मिटा रहा था।"

"कल रात क्या आप सोए नहीं ?"

"मैं तो प्रायः ही जागा करता हूँ।"

सोहिनी निर्वाक रही।

"विस्मित हो रहे हो ?"

"सोच रहा हूँ रोज़ रात को जागने के बाद भी आदमी इतना काम कर कैसे सकता है ?"

असित हँसने लगा।

"आखिर पूरी रात जाग कर आप करते क्या हैं ?"

"कभी कोई रसायन तैयार करने में लग जाता हूँ। कभी कोई चिन्ता में। तब याद भी नहीं रहता कि सोना भी है।"

"आप बड़े भुलक्कड़ हैं।"

"मैं ? नहीं तो।"

"परन्तु इस तरह कब तक चलेगा गुरुदेव ?"

"क्या ?"

"याने आपका स्वास्थ कब तक टिकेगा ?"

"क्यों, मैं तो स्वस्थ हूँ।"

"सो ठीक है, परन्तु इस अनियम से कबतक आदमी स्वस्थ रह सकता है ? कब तक जीवित रह सकता है ?"

"तो क्या करूँ ? काम में जब मस्त हो जाता हूँ तब स्नान-भोजन सब भूल जाता हूँ, सोहन कौन मुझे याद दिलावे ?"

"मैं।"—वह ज़ोर के साथ कह उठी—"मैं-मैं।"

"तुम ? फिर ढो भी सकोगे इस बोझ को।"

"अवश्य।"

असित अपलक नेत्रों से सोहिनी को देखने लगा। देखते—देखते कह उठा—"और उस वास्तविक बोझ को,-भारी बोझ को भी सह सकोगे, उठा सकोगे। ऐसा मेरा विश्वास है।"

"कौन से बोझ को गुरुदेव ?"

"मैं तुम्हें अपना सहकर्मी, सहयोगी बनाना चाहता हूँ सोहन।"

"क्या मैं इसके योग्य हूँ ?"–धीरे उसने पूछा।

"किन्तु परन्तु नहीं सोहन, मैं कहता हूँ हो ही।"

इतने बड़े दायित्व को, अधिकार को पाकर सोहिनी रोमाञ्चित हुई। स्तब्ध, निर्वाक हो रही।

और असित ने समझा उलटा, खिन्न स्वर से वह बोला—"तो क्या मैंने ही तुम्हें समझने में भूल की ?"

सोहिनी चकित हुई। हटात वह असित के पैरों पर झुक पड़ी, दोनों हाथों से उसके पैर छुए और विद्युत गति से भाग निकली।

प्रसन्न हास्य से असित का खिन्न मुख उज्ज्वलतर हुआ। उस मौन प्रणाम के अन्तराल से जो वास्तव वस्तु उसे मिल गई उसके लिए इतनाही यथेष्ट था। प्रफुल्ल अन्तःकरण से असित अन्तःपुर की ओर चल दिया।

—:०:—

(१६)

रविवार का दिन था। सुनील और असित चाय के टेबुल पर बैठे हुए थे ऊपर के डाइनिंग रूम में। नौकर के हाथ में चाय का ट्रे लिए पहुँच गई सोहिनी, चाय का सामान, फल, केक, समोसे, आदि ट्रे पर से उतार कर टेबिल पर रखने लगी।

"अब तक तुम कहाँ चले गए थे सोहन ? आठ बज गये हैं, अब तक चाय के लिए किसी ने न पूछा।" अनुयोग पूर्ण स्वर से कहा असित ने।

सिगरेट मुँह से हटाकर इतनी देर के बाद सुनील ने उस ओर देखा। पूछा–"इन्हें आज ही देख रहा हूँ।"

सोहिनी ने एक बार बक्र नेत्रों से सुनील को देखा, फिर चेयर पर बैठकर बोली असित से, "स्नान करने में देर लग गई, इधर नौकरों ने चाय तक न दी। लीजिए।"–सोहिनी ने केटली से चाय छानकर दोनों को दी। प्लेटों में अण्डापोज, रोटी, मक्खन, केक सजाकर उन दोनों के सामने रख दिये।"

दोनों को परिचित कराता हुआ असित ने कहा–"यह मेरे मित्र दार्शनिक सुनील हैं। सो यह हैं सोहन।"

"इन्हें मैंने पहले कभी तो देखा नहीं।" –सुनील ने गरम चाय का प्याला उठाकर कहा।

"कुछ महिना हुए यह मुझे अचानक मिल गया। भाग्यवश ही कहना चाहिये।"

"आखिर यह मर्द ही है न ?" सहसा सुनील ने पूछा।

असित ज़ोर ने हँसा। और अपनी लज्जा, आशंका को छिपाने के लिए सोहिनी ने मुँह फेर लिया।

हँसी रोककर असित ने कहा–"इस लड़के के आजाने से मेरे मन और भुजाओं में डबल ताकत आ गई है सुनील। ऐसा अक्लमन्द है सोहन, सच मानो, पहले कभी शायद ही मैंने ऐसा देखा हो।"

"अरे आप भी तो चाय लीजिए सोहन बाबू।"

सोहिनी ने चाय ली और बैठकर पीने लगी।

उत्साह से कह चला असित–"मेरी अव्यवस्थित गृहस्थी को इसी ने आकर व्यवस्थित किया,कितना कहूँ,अब स्वादिष्ट भोजन मिलता है, इधर मेरे रिसर्च के काम में भी यह आशा से अधिक सहायता पहुँचा रहे हैं।"

"तभी तो कह रहा था यह लड़का हैं या लड़की ?"

तीनों पुनः हँस पड़े।

"आपतो मज़ाक करते हैं।" बोली सोहिनी।

"मज़ाक ? नहीं ! वास्तविक ही कह रहा हूँ–मुझे अबतक विश्वास नहीं आ रहा है कि आप पुरुष हैं।"

साहस भर देने वाली पुस्तक
"आवाज़"

"क्यों ?" –कहने को तो कह गई सोहिनी 'क्यों" परन्तु अन्तःकरण उसका आशंका से परिपूर्ण था।

"कई बातों से।"

"फिर भी सुनूँ तो ?"

"पहली बात-तो आपका चेहरा, दूसरा आपकी आवाज़, तीसरा—"

"अजी, बस भी करो, तुम्हारी बातों से मुझे हँसी आ जाती है। और सोहन बेचारा शरमा रहा है।"

बात को दूसरी ओर मोड़कर सोहिनी ने कहा–"आप तो कुछ भी नहीं खा रहे हैं, यह पोज तो लीजिए।"

"और आप ?" –सुनील ने कहा।

"मैं सवेरे केवल चाय लेता हूँ।"

"तभी तो ऐसे कमज़ोर से हैं।"

"कमज़ोर ? यह कैसे जी रहा है वही पूछो।" –उत्तर दिया असित ने।

"क्यों ? बात क्या है ?"

"सब बातें सुनोगे तो आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा। यह थायसिस का रोगी है। याने एक तरफ़ का लंग्स कीड़ों ने एकदम चुन डाला है।"

"सच ?"–सुनील निविड़ विस्मय से सोहिनी को देखने लगा।

"न मानो तो एक्सरे प्लेट को देखलो। सोहेन लाना तो भाई, उस प्लेट को। इन्हें विश्वास नहीं आता।

परन्तु सोहिनी ने उठने की चेष्टा मात्र न की, उपरान्त परम गंभीर मुख से कहा—"वह तो गुम गया।"

"गुम गया ? कैसे ?"

"कौन जाने।"

"जाने दो। फिर ले लिया जायगा।"

कुछ देर चुप रहकर असित ने कहा—"सोहन।"

"जी।"

"मुझे आज वक्त नहीं मिलेगा। छात्रों को तुमही पढ़ा देना।

"छात्र कैसे ?" सुनील ने पूछा।

"इधर प्रायः एक सौ के लगभल छात्र आ गए हैं और आते जाते हैं। उस तरफ़ की ज़मीन पर उनके कार्टर्स बन रहे हैं।"

"किस बात के विद्यार्थी हैं वे ?"

"प्रधानतः स्वाधीन चिन्ता के। मौत को जीतने की गवेषणा में वह भी भाग लेना चाहते हैं। पागलों की चिकित्सा भी सिखाई जाती है।"

"इतना वक्त तुम्हें कैसे मिलता है ?"

"अब सोहन जो है।"

"वही पागलपन ! इतना ख़र्च चलेगा कैसे ?"

"चलतो रहा है भाई।"

"बेकार झंझट बढ़ाना।"

"स्वाधीन चिन्ता सब कुछ की पूर्ति करेगी सुनील बाबू।" सोहिनी के कंठ के मूर्त परिहास को असित ने वरदान ही की

तरह जैसे हाथों पर उठा लिया–"ठीक कह रहे हो सोहन केवल उसी चिन्ता के सम्मान के लिए मैं हूँ और मेरा अर्थ, सामर्थ सब अभावों को वाधा, विघ्न को वही चिन्ता दूर हटायगी। समझे सोहन।"

"परन्तु इनमें से ज्यादातर विद्यार्थी कैसी स्वाधीन चिन्ता के उपासक हैं, यह शायद आप नहीं जानते सुनील बाबू।" कहा सोहिनी ने सुनील की ओर मुँह किए।

"मैं तो सब कुछ जानता हूँ सोहन।" एक सहज, सरल अपनेपन की रीति से सुनील ने सोहिनी को सम्बोधन किया। उस किशोर के सामने दूरत्व जैसे सहसाही हट गया था।

"पूरे दिल से न भी हो–" कहने लग गया असित—"किन्तु कुछ थोड़ी सी स्वाधीन चिन्ता की रुचि उनके मन में नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मेरे विचार से यह रुचि प्रत्येक मनुष्य के मन में हुआ ही करती है। यह जन्मगत एक संस्कार, देन, उस बीज पर पानी, धूप आदि के पड़ने से अंकुर नहीं निकलेगा, ऐसा कौन कह सकता है ?"

"शायद ऐसा हो।" सोहिनी ने कहा।

"शायद ? नहीं, मैं तो पूर्ण निश्चय पर दृढ़ हूँ। अनेक मिलित स्वाधीन चिन्ताओं का कैसा एक विराट रूप बन जाता है। हाँ, विनाशहीन रूप, उस बात को भी कभी तुमने विचार कर देखा है सोहन ?"

सुनील के गंभीर मुख पर विद्रूप की हँसी झाँकने लगी—"यह सब तुमने कब कर डाला ?"

"यही तीन-चार माह के बाद तुम न जाने कहाँ चले गए थे। कहाँ गए थे ?"

"बाम्बे, पञ्जाब—कई शहरों में।"

"क्यों ?"

"रुपयों की ज़रूरत थी।"

"रुपयों की ? तो वहाँ रुपये कैसे मिले ?"

"गाने का रेकार्ड बनवाने गया था।"

"अपने गाने का ?"

"हाँ"।

"किन्तु मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता था।"

"कैसा ?"—पूछा सुनील ने।

"अपनी आवाज़ को, अपनी चिन्ता को, अपने ब्रेन को, कंठ की उपज को बेच नहीं सकता था, बाँध नहीं सकता था।"

"बेचना बाँधना।"—कह सका सुनील इतना ही।

"हाँ सुनील वही। मशीन का रेकार्ड, याने पैसों के लिए अपनी आवाज़ को बेचना, बाँधना, एक परिधि में बाँध देना, वही आवाज़ जो कि कभी सहज बहाव से दुनियाँ की होकर रह सकती है, वही आवाज़—जो कि कभी सृष्टि करने पर तुल जाती है, उसे ही बेच देना, नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता था,

बिकी हुई आवाज़ दुनियाँ के लिए कोई बृहत्तर काम में नहीं लग सकती है। उस आवाज़ में सतः स्फूर्ति नहीं रह सकती नहीं रह सकती, आवाज़—बँधी हुई आवाज़ ॥"

सुनील और सोहिनी चुप हो रहे।

—:o:—

(२०)

रात की नशीली चाल में विश्व का सपना मचल रहा था, परन्तु उस सपने की छाया भी असित के पलकों में नहीं थी, खुले छत पर चाँदनी के समुद्र में तैरता हुआ वह टहल रहा था। उसके दीर्घ, बलिष्ट शरीर की छाया आगे-पीछे चल रही थी। बुद्धि उज्वल नेत्रद्वय मुद्रित थे। बाँह ऊर्द्ध की ओर बढ़ी हुई थीं—जैसे शून्य में कुछ पकड़ कर, समेट कर बन्दी कर रहा हो।

"प्यासी हूँ,-प्यासी हूँ-प्यासी हूँ" सिर के उपर से पक्षी पुकारता हुआ निकल गया मुख ऊपर को उठाए। चाँद की छाया में वह आकृति परम रमणीयता में भर उठी। तनी हुई मूछों पर जैसे अतीत का भूला—भटका हास्य बिथर गया। स्मृति की छाया में चित्त उसका रम गया—ग्राम की शस्य-श्यामल धरती, हरे खेतों की श्रेणी ऊबड़—खाबड़ मेढ़ पर बैठे दो बालक, बेर-बिही भोजन-रत। पालकी से झाँकती जमींदार बधू मंगला। अपने नैहर चली है। पालकी वाहकों के स्वर से भीत-त्रस्त हिरणों के झुण्ड में भागने की होड़, दूर दिगन्त में

पपीहरा के प्यास की वार्ता। और तब वह काला साँप उसी मेढ़ पर। डंसने को तैय्यार हुआ, वह उन दोनों में से एक को, चमकी उसकी आँखें।

नहीं-नहीं, यह क्या ? क्या ? क्या ? सहसा यह क्या ? साँप भी कहाँ ?

हैं-हैं, वह मुट्ठी में दवा उस दूसरे बालक को घुमा रहा है ज़ोर से मुट्ठी में दावे उस विषधर को।

"तुम को अभी यह काट लेता असित।" यों कहता हुआ दूसरा बालक लिपट रहा है पहले से।

और साँप ? दूर मरा पड़ा हुआ है न। सो पीपल पर बैठी चील वैसी ही द्विप्रहर की रागिनी अलाप रही है। और असित नाम का बालक विस्मय से सुनील को निहार रहा है। कह रहा है आश्चर्य श्रद्धा से बड़े साहसी हो भाई तुम। आखिर साँप को मार ही डाला। हाथ से इसे पकड़ा भी कैसे ? मरने से भी- नहीं डरते सुनील ? अगर काट लेता ?"

"तो मर जाता, बस, इससे ज़्यादा होता भी क्या ? मगर मरता सो भी खुशी से।"

"खुशी से ?"

"हाँ। क्योंकि तुम्हारी जान बच जाती न।"

"तुम—तुम—"

"क्या ?"

"इतना चाहते हो तुम मुझे नील ?"

व्याप गई एक लज्जित हँसी सुनील के मुँह पर, और जैसे उस हँसी को धोखा देकर वह कह उठा—"धत मैं क्यों चाहने लगा तुझे ?"

बोला—वह इस अस्वाभाविकता से, जैसे कि अपनी दुर्बलता को मिथ्या के आवरण में ढ़ाँक रहा हो।

खट-खट-खट, आ रही है वह आवाज़।

"आगई दादी, उन की लाठी की आवाज़ आ रही है वह सुनील।"

बूढ़ी दादी के एक हाथ में लाठी, दूसरे में है-रोटी की पोटली। मैले, फटे कपड़े की पोटली।

लिपट गया उस के गले असित—"आज मुझे तुम मरा पाती दादी। वह देखो साँप, देख रही हो न ?"

दादी का भीत कम्पित स्वर—"क्या-क्या ? काट लिया तुझे ?"

"सुनील जो था, फिर काटता कैसे ? सुनील ने साँप का सिर मुट्ठी में दबा लिया था और पीस पीस कर मारा।"

"मेरा लाल, मेरा बेटा सुनील, मेरे सिर में जितने बाल हैं उतनी तेरी आयु हो। राजा बन, आज तूने दुखिया की ज़िन्दगी बचा ली। इसके बिना दुनियाँ में मेरा है भी कौन ? एक महीने का रखकर इसकी माँ मरी थी।"

झर-झर-झर-झर—आँसू झर रहे हैं न दादी के। दादी के हृदय से चिपके हैं न वे दो बालक।

है—यह संध्या, गाभी का झुण्ड नदी में लहराता हुआ चला आ रहा है। झुण्ड के पीछे दो बालक, लाठियाँ हाथ में। झोली में भरे चने—मुरमुरे।

"तुम फिर चने चबा रहे हो असित ? गाँव में हैज़ा फ़ैला हुआ है। मुझ से कह रहे थे कि सिर्फ़ मुरमुरे हैं।"

"चने ही तो हैं। इससे क्या हुआ ?"

"हैज़ा हो जायगा।"

"बात छोटी है न। आजायगा एक दस्त, मुंद जायँगी आँखें, हो जायगी छुट्टी।"

"मर जायगा ?"—मुँह बिचका कर कह रहा है सुनील—"तो मेरी बला से। मर जायगा तो फेंक आऊँगा बस।"

मित्र के मिथ्या वचन से खुल पड़ती है असित की हँसी की खिलखिली। पड़ोस का रामा दौड़ता-हाँफता पहुँच जाता है—

"सुनील, जल्दी।"

"क्यों—क्या बात है ?"

"तुम्हारे बाप को हुई एक उल्टी और वह शून्य पड़ गये हैं।"

सुनील भागा चला जा रहा है, पीछे आँसू पोंछता असित। शहर का राज-पथ। लाईट पोस्टों पर उज्ज्वल बिजली का प्रकाश। पथ के किनारे शीत से ठिठुरते आलिंगनबद्ध दो बालक।

और जब वह चित्र भी असित के नेत्र समीप आ गया। तब वह एक आतंकित सिहरन में आत्महारा-सा हो रहा,—वहीं एक डबल रोटी के टुकड़े को लेकर कुत्ता और मनुष्य में

युद्ध। कुत्ता डबल रोटी के टुकड़े को दाँत से दबाकर खींचने में लगा, दूसरी ओर उस टुकड़े को खींचता हुआ अर्द्धनग्न बालक।

किताब हाथ में मलीन वस्त्र परिहित स्कूल के छात्र सुनील, असित। भोजन बनाता है सुनील, असित को भर पेट भोजन देता है, स्वयं अर्द्धाहार में रहता है।

आता एक वृहत कालेज, बोर्डिंग, पाठक। भोजन बनाते बोर्डिंग का असित और सुनील, परिवर्तन में मिलता उनको भोजन, पाठ-व्यय। रात्रि उनके निद्रातुर आँखों के सामने से मुसकाती निकल जाती, परन्तु चाँदनी उनका साथ देती।

सहसा असित के नेत्रों में राशि राशि उज्ज्वल प्रकाश भर उठा। विचार-धारा उसकी छिन्न-भिन्न होगई—आकाश से बिछुड़े तारा की भाँति। पहुँची उसकी चिन्ता समुद्र के उसपार, विलायतके राज-पथ पर। पथ पर बैठे दो युवक फटे जूतों को मरम्मत करते हुए। एक ओर फटे जूतों का ढ़ेर, चमड़ा मशीन इत्यादि।

देखते देखते जूता सिलाई की मशीन वृहत अद्भुत यन्त्र, कलपुर्जों में परिवर्तित हो जाती। वृहत हाल गवेषणारत युवक युवतियों की टोली।

मीनाक्षी, सुन्दरी नारी, वृहत उद्यान, प्रेम-प्रीति उत्फुल्ल नारी का स्वर। पल भर के लिये भर उठता युवक के नेत्रों में मोह। और दूसरे ही पल वह सहम कर कहता— "खेद है मिस मार्था, खेद—खेद।"

"खेद ?" नारी विस्मय से कहती।

"हाँ, खेद ही, तुम्हारे प्रेम का प्रतिदान नहीं दे सकता हूँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि मन मेरा किसी बन्धनी में नहीं बँध सकता है। समझी न, मिस मार्था, तुम्हारे लिए मुझे दुःख है, है खेद, सहानुभूति।"

"असित।"—वही चिर स्नेहमय, सुन पड़ता। हट जाती नारी।

"यह तुम्हारे आचार्य की लड़की है न।?' पूछता सुनील।

"हाँ"।

"निर्बाध, फिर उसके प्रेम-निवेदन को तुमने ठुकरा क्यों दिया ?"

"तो क्या करता ? बाँध देता अपने को और अपनी ही अनिच्छा से ?"

"फिर मुझे निकालने वाला है भी कौन ?"

"बुरा किया। भूलो मत, यह आचार्य की एक मात्र दुलारी लड़की है। है वह काल-भुजंगिनी सी क्रूर विष-सम्पन्न।"

"तो उस विष की दवा मेरे पास भी है।"

"गुरू देव।"

पुकार से लौट कर देखा असित ने सोहन खड़ा था, धीरे-

धीरे असित उस के निकट पहुँचा । मूर्छितप्राय चन्द्रालोक में सोहन उसे अपूर्व सा लगने लगा "सवेरे से आज किस धुन में लगे हो डाक्टर बाबू, स्नान भोजन की सुध तक नहीं । कहाँ खड़े हो और मैं ढूँढता फिर रहा हूँ ।"

"फूल-बेल-पत्र, माला कुछ नहीं रखा है, आज देवी पूजा कैसे करूँगा सोहिनी।" अर्द्ध निमीलित नेत्रों से गुनगुना कर असित ने कहा ।

उस स्वर ने, उन शब्दों ने सोहिनी के मन में एक घुर्णावर्त की सृष्टि कर दी, आकुल क्रन्दन ने कुछ देर के लिए उसके स्वर को रूद्ध कर दिया ।

"क्या कह रहे हो गुरू देव ?" देर के बाद सोहिनी ने कहा ।

और तब असित ज़ोर से हँसा—"कुछ नहीं वह एक सपना था ।"

"सपना ? कैसा सपना ?"

"किसी एक दिन बतलाऊँगा तुम को ।"

"अच्छी बात है । अब इस वक्त कुछ भोजन करना है या नहीं ?"

"क्या सवेरे से मैंने खाया नहीं ।"

"नहीं, कितनी बार कहूँ कि नहीं ।"

"तो तुमने मुझे बुलाया क्यों नहीं मित्र ?"

"मैं बाज़ार गया था न।"

"ओह, तभी।"

"चलिए।"

"चलें?"

—:o:—

Love to

Sumitra of

Govt. Girls college

3rd year

1981

your lover

दोपहर की सूनी घड़ियों में 'शाम गान' भरा पड़ा था, कोई उसे सुनता, कोई सुनना न चाहता, अथवा मोह की हटीली चाल में अपनी चाल मिलाना चाहता। केवल चील उसे अपने गान में भर पाती, कारण गान से अतीत को वह वर्तमान में लाना चाहती।

द्विप्रहर की साथिन चील, नित की भाँति वृक्ष पर बैठी सुना रही थी गान विश्व को, जगा रही थी द्विप्रहर को। उस चीत्कार ने असित के मन की भावना को छिन्न किया। भूली सी बात की याद से वह उठा और सीधे सोहिनी के द्वार पर पहुँचा।

जंजीर खट खटाई। कोई उत्तर नहीं। असित ने झाँक कर देखा कमरा सूना था। तब सोहिनी को ढूँढता उस स्थान पर पहुँचा—जहाँ काँच के जार में भरे कीटाणुओं को रखे सोहिनी छात्रों को कुछ समझा रही थी।

उस विज्ञान-मन्दिर में रहते रहते सोहिनी असित की प्रधान छात्रा बन गई थी। कब वह उस उन्मादालय की सर्वमयी स्वामिनी बन गई थी और अनायास कब उसने छात्रों पर अपने अधिकार

की छाप लगा दी थी, ये सब बातें स्वयं उसी के निकट रह गई थी अनजान, फिर दूसरा जानता कैसे ?

असित के उस मित्रवत व्यवहार से वह आमोद अनुभव करती। लगता वह व्यवहार उसे मिष्ट, मधुर। केवल सुनील की अन्तर्भेदी तीक्ष्ण दृष्टि के नीचे वह अत्यन्त अस्वच्छन्दता अनुभव करने लगती। लगता उसे वह दृष्टि उसके हृदय-रन्ध्रों तक को देख लेगी, वहाँ की गोपन-कथा तक का पाठ कर लेगी। वह सुनील को वर्जित कर चलती।

वहाँ पहुँच कर असित हतबुद्धि सा रह गया।

कहा केवल इतना ही–"यह क्या सोहन ?"

सोहिनी चुप रही।

"अभी कल रात भी तुम्हें एक सौ चार ज्वर था। और आज काम कर रहे हो ?"

जरा सा मुसकरा कर सोहिनी उठी, निकट पहुँची–"किन्तु अब बिलकुल अच्छी हूँ, न गुरुदेव।"

"दवा पीली ?"

"उसकी जरूरत भी तो नहीं हुई न।"

"चलो कमरे में।"

दोनों पहुँचे सोहिनी के कमरे में।

"बस अब चुपचाप पड़े रहो। नब्ज़ देखें।" और सोहिनी की नब्ज़ देखकर असित को स्तब्ध होना पड़ा। "बापरे इतना

ज्वर, और कह रहे थे ज्वर नहीं है ? ठहरो; इनजेक्सन लेकर मैं अभी आया।"

सोहिनी को कुछ अवकाश न देकर असित चला गया और थोड़ी देर में लौटा। सिरीञ्ज आदि टेबिल पर रखकर चेयर खींच कर बैठ गया।

"सोहन तुम बहुत ज़िद्दी हो भाई। कितनी बार कहा। अनुनय की कि बीमारी के वक्त अत्यन्त काम मत किया करो फिर भी तुम एक नहीं मानते।

"किन्तु यदि काम ही करने से अच्छा रहूँ तो ?"

"बीमार रहकर भी ?"

"परन्तु मुझ में मृत्यु के लक्षण कहीं दीखते हैं ?"

"मानता हूँ कि अभी नहीं दिखते। लेकिन—"

"और दुर्बल भी कहीं दिखता हूँ ?"

उसे देखते हुआ असित की मुख की रेखाएँ हास्य की सरसता में सुप्ति से पूर्ण हुईं। कहा–"तुम तर्क बहुत करते हो।"

"एक बात कहूँ, गुरुदेव।"

"कहो।"

"दो दिन का समय माँगता हूँ, दो दिन की मुझे छुट्टी दो।"

असित के जिज्ञासु नेत्रों के प्रति देखकर वह बोली–"इन दो दिनों तक मुझे कुछ दवा न दी जाय। दो दिन मुझे मुझी पर छोड़ दिया जाय।

"तुम पर ? नहीं, आत्मशक्ति, इच्छा-शक्ति पर कहो।"

सिर हिलाती हुई, मीठी हँसी की लकीर मुँह पर खींचकर वह बोली –"आप हँसी उड़ाते हैं डाक्टर बाबू।"

"हँसी ?" परितृप्त दृष्टि से उसे देखता हुआ असित कहने लगा–"ऐसा तो नहीं है साहब, तुम्हारे इस असाधारणत्व से, आत्मशक्ति की चमत्कारिता से मैं प्रभावित हुआ करता हूँ। तुम पर मुझे विश्वास है, श्रद्धा है।"

रोमाञ्चित सोहिनी ने उसे प्रणाम किया। असित हँसा, विस्मय से उसे देखा, पूछा–"यह क्या हुआ ?"

"देख ही रहे हैं कि आपको प्रणाम किया।" लज्जित होकर सोहिनी रुष्ट हो रही थी।

"किन्तु क्यों ?"

"मेरी खुशी। आपको इससे मतलब ?"

"आप-आप-आप, वही दूरत्व, वही व्यवधान, वही परायापन।"

"तो क्या कहूँ ?"

"क्यों तुम नहीं कह सकते हो ?"

"गुरु को तुम ?"

"नहीं मित्र कहो।"

"मित्र।" —पुकारा सोहिनी ने धीरे से।

उस पुकार में कौनसी कथा भरी थी कौन जाने, असित का जी जाने कैसा कर उठा, धीरे धीरे वह खुली खिड़की के सामने जाकर खड़ा हो गया।

"तो मुझे दो दिन छुट्टी मिलेगी न।"

"छुट्टी ? हाँ, तुम्हारी ही इच्छा पर छोड़ता हूँ । तुम पर तुम्हारे मन की ताकत पर मुझे पूर्ण विश्वास है। यदि सच कहा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि स्वाधीन-चिन्ता का पुजारी मैं नहीं तुम हो। मेरे मन में ऐसी ज़बरदस्त ताकत है भी कहाँ जो अपनी आवाज़ में भर सकूँ ? मौत को जीतने के लिए इस विश्व-ग्रासी संग्राम में अपनी आवाज़ को व्यापक करदूँ ? मौत को जीतने के लिए मौत के पीछे भटकता फिर रहा हूँ। और मेरे ही छात्र तुम न जाने कब से मौत को जीतकर बैठे हुए हो। स्वाधीन चिन्ता का उपयोग तुम किस जीवट के साथ कर सकते हो। कर रहे हो, वह एक विस्मय की बात है। शिष्य आज गुरु को पथ दिखला रहा है।"

"कहाँ तुम गुरुदेव और कहाँ मैं।"—लज्जावती लतासी कह सकी वह इतनाही।

"भूल, सोहन, भूल। अथवा विनय का हो असिनय। हाँ, प्रथम परिचय के दिन ही मैं उस शक्ति को पहचान गया था न।"

ज़रासा दबकर वह बोली—"पहचान गये थे ? किन्तु परिचय, क्या ऐसा सहज, ऐसा अनायास लब्ध है डाक्टर बाबू ?"

परम गंभीर मुख से अपने एकनिष्ट विश्वास को आँखों में संजोर, सँभार कर कह चला असित—"हाँ, आदमी आदमी को पहचानता है, नीरवता के भीतर से। उसके पलभर की शान्त दृष्टि क्षणभर के परिचय के भीतर जीवन भर का रहस्य छिपा रखता है। मूर्त हो उठता है। समझे न तुम मित्र ? याद है न

तुम्हें–उस मौन-वेला के गूँगे सोहन को ? हाँ, उसी छोटी बेला ने ही तुम्हारा परिचय मूर्त कर दिया था मेरे मन के प्राण में।"

"किन्तु मुझे ये बातें अनहोनी सी लगती हैं। लगता है आदमी का परिचय इतना सहज नहीं है, है वह एक जीती जागती पहेली। उस में भरी पड़ी है युग युग की पहेली। एक घुर्णावर्त है यह आदमी। उसी भँवर में पड़ा वह अविराम घूमा करता है। वहाँ है भी कहीं उसके परिचय की सीमारेखा ? दुनियाँ के ये छोटे पल, किन्तु इन पलों का प्रताप भी हो जाता है अटल, अचल, हिमालयसा। वही पल उसके जीवन में कब—कौन-से दृश्यपट को प्रसारित कर बैठेगा, सो वह कुछ नहीं जान सकता है। ऐसे एक परिचय के लिए सब कुछ जानने का दावा करना, माफ़ करना डाक्टर बाबू, हाँ, अहंकार के सिवा और क्या हो सकता है ? परिचय आदमी का परिचय।"

"अपना अपना दृष्टि-कोण है।"

"शायद मूल रास्ते पर मैं होऊँ।"

कुछ देर दोनों मौन रहे।

"यह जो पगली तूलिका है। क्या है इसका परिचय। बस एक उन्मादिनी ?"–प्रथम मौनता भंग किया सोहिनी ने।

"ज़रूरी ही नहीं। इसके बाद भी वृहत्तर कुछ है जिसे कि हम उसका दुख कह सकते हैं, है एक आँसू का सागर, उसी में डूबी है वह, उसके चहुँओर आँसू जमकर पत्थर हो गये हैं। हाँ,–उसी आँसू ने उसके अन्तर के सारे सौन्दर्य को, मिठास,

सरलता को ग्रास कर लिया है। बच रही है, जी रही है वह एक जीवित व्यंग की भाँति। विश्व ने जो एक दिन गंभीर परिहास किया था उससे, उसी का बदला दे रही है, चुका रही है वह उन्मादिनी बनी।"

"किन्तु उसका यह परिचय तो पूरा नहीं हो पाता है गुरुदेव।"

"उसका परिचय ? क्या नहीं सुना है तुमने उसका अधूरा गान ? यदि सुना है तो उसका परिचय क्यों पूछ रही हो ?"

"गान ? नहीं के बराबर। एक दिन ज़रा गुनगुना उठी थी। एक अधूरा गाना कंठ में जैसे बाँसुरी की आवाज़ भरी हो। किसी को सुनाने के लिए जैसे रख छोड़ा हो वह पीछे का पद।"

"ऐसा ही है।"

ज़रा चुप रहकर सोहिनी ने कहा—"यहाँ के छात्रों ही को देखिये। सब मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार का, स्वाधीन-चिन्ता का अपने को उपासक कहते हैं। पूछती हूँ कौन हैं इनमें से सच्चे ?"

विराग से असित ने सोहिनी को देखा—"क्या आज तुम मुझे दुनियाँ ही पर अविश्वास करने को कह रहे हो, सोहन ? परन्तु उसके बाद ? बाद का भी कुछ सोच रखा है तुमने ?"

"बाद का ?"

"नहीं भी कैसे ? दुनियाँ को अविश्वास करने वाला आदमी अपनी उस आवाज़ पर, चिन्ता पर, अपने आप पर विश्वास भी

कर सकता है कभी ? तब उस अविश्वासी आत्मा को–लेकर जीऊँ कैसे ? अपनी आवाज़ को दुनियाँ में रख सकूँगा कैसे ?

अविश्वास भी कहीं विश्वास पर जय पा सका है ?”

निविड़ विस्मय से सोहिनी उसे देखने लगी।

—:o:—

(२२)

अर्द्धरात्रि की स्तब्धता। विश्व की डेहरी में बैठी स्वप्न परी स्वप्न की झोली खोल रही थी। दिन का कोलाहल रात्रि के विराम में था मूर्च्छातुर। गवेषणागार के प्रत्येक कमरे, दालान में निशुथी समा रही थी। असित तब अपना काम शेष कर पलंग पर लेट रहा था। पलकों में नींद भर रही थी।

तब वीणा नन्दित स्वर-लहरी जैसे उस निशीथिनी का आलिंगन करती हुई स्वप्न का जाल-बुनने लगी–वायु के कम्पित श्वास में।

असित उठकर बैठ गया, कान लगाकर सुनने लगा। लगने लगा उसे जैसे उसके हृदय के समीप बैठी उसकी प्रेयसी उसे पुकार रही हो, उसके केसरगन्धित श्वास जैसे उसके ध्यान में समा रहे हों। लगा उसे एक अधीर विरहिनी अपने रक्त-विन्दु से बासर-दीप जलाकर युगों से उसकी प्रतीक्षा में बैठी हो। अपनी व्यथित पुकार को गान के शब्दों में भर कर पुकार रही है।

वैसे ही तन्मयता के भीतर असित उठा पादुका-विहीन

पदद्वय को खींचता हुआ उद्यान में पहुँच गया। केतकी-पुष्प के निकट केतकी की सुगन्ध को शरीर में लिप्त किये यहाँ पर बैठी थी तूलिका अपने संगीत में मस्त।

चतुर्थी का चाँद आकाश में भिखारी की तरह बैठा था। उस अस्पष्ट चन्द्र-किरण में गायिका ने उसे पहचान लिया। गान वैसे ही चलने लगा, गा-गा कर वह अपने खोये हुए प्रीतम को वैसे ही पुकारने लगी। उस पुकार की परिधि में उपस्थित असित का जी न जाने कैसा करने लगा।

काला साँप असित के निकट से निकल गया। सहम कर असित ज़रा हटा। गान के प्रथम पद को बार बार गा कर सहसा तूलिका चुप हो रही—जैसे गान के अव्यक्त अंश में गुमी सी।

"पूरा करो—इसे पूरा करो तूलिका।"

उसने भाव हीन नेत्र उठाए—"नहीं।"

"नहीं भी क्यों? इसे पूरा तुम्हें ही करना पड़ेगा।"

"जबरन ही?"

"हाँ।"

जोकि उसके लिए मैंने सहेज कर रखा है उसे छीनने वाले तुम हो भी कौन? दानव, हत्यारा, कैसी है वह तुम्हारी ताकत?"

निविड़ विस्मय से तूलिका को असित ने देखा, कहा—"कौन कहता है तुम उन्मादिनी हो? झूठ। उन्मादिनी भी

कहीं ऐसी बातें किया करती हैं ? तुम ने यह उन्माद का स्वाँग कैसा रच रखा है ? कहो, जवाब दो ।"

"हिः हिः हिः" ।–निस्तब्धता के अन्तर को चीर कर पगली हँस उठी । उस अशुभ हास्य से बन सिहरने लगे, फिर अपने आयत लोचनों को डाक्टर के मुँह पर आवद्ध किए स्थिर हो गई ।

असित को लगा—विश्व में जमीं हुई घृणा की शेष बून्द तक उन आँखोंमें भर उठी है । लगने लगा उसे-वह घृणा उसे तभी निगल जायगी ।

"झूठ-झूठ । प्रतारक हटो, हट जाओ मेरे सामने से । प्रतारक, घमण्डी, मौत को जीतना । सब झूठा है-सब झूठा, एक्सपेरिन्ट मात्र, बिना मौत के आदमी को, रोगी को मार मार कर एक्सपरिमेन्ट करना । हटो ।"

असित मृदु-मृदु हँसने लगा–"ऐसे विकट अविश्वास को लेकर तुम जी कैसे रही हो उन्मादिनी, यही है मेरी आज की समस्या ।"

"विश्वास ? हिः हिः हिः, यह हत्यारा कह रहा है विश्वास करो ।"

"हाँ, विश्वास ही ?"

"तुम पर ?"

"हानि ही क्या है ?"

वह असित को घूरने लगी ।

"विश्वास करो, देखना, एक दिन मैं ही तुमको अच्छा कर दूँगा।"

तूलिका घृणा से दो पद पीछे हटी–"आज भी मैं तुम्हारे यहाँ क्यों रह रही हूँ। क्यों जी रही हूँ, जानते हो?"

"नहीं।"

"केवल तुम्हारे रसायन का, दवा का एक बूँद भी न पीं करके।"

"नहीं पीतीं तुम?"

"पीकर क्या अपनी मौत को बुला लेती?"

"इतना अविश्वास?"

"यह साँप मारो-मारो। मेरा सुरेश बेदाना चाहता था न।"

"यह सब तो बेदाना है, लो न तूलिका।"

तूलिका पेड़ के पत्ते नोंचने लगी–"है है, बहुत है दाना बेदाना।"

उसे स्वस्त होते देखकर असित ने पूछा–"दवा नहीं पीती हो?"

"नहीं।"

"तो उसे क्या करती हो?"

"फेंक देती हूँ।"

"जानती हो यह सब कितनी कीमती है?"

"बड़े होशियार बने हो डाक्टर, मुझ पर कुछ एक्सपेरिमेंट काम न देगा।"

अवाक विस्मय से असित उस अनोखी उन्मादिनी को देखने लगा। सोचने लगा असित–घोर बुद्धिमती यह नारी, उन्मादिनी कैसे ? कदाचित किसी एक दिन किसी एक के दानवोचित व्यवहार ने इसकी सरसता, विश्वास आदि की होली जलादी होगी और उस होली की ज्वलन्त आग की चिनगारी से इसके अन्तर में विद्रोह का, अविश्वास का जो एक ज्वालामुखी फट पड़ा होगा, जिसकी न निवृत्ति है, न है समाधि।

"क्या देख रहे हो डाक्टर ?"

"तुम को।"

"क्या मैं सुन्दर नहीं हूँ ?"

सरल हास्य से असित ने कहा–"अनुपम सुन्दरी।"

"सुनाऊँ तुम्हें गान ?"

"किन्तु अधूरा नहीं।"

"नहीं–नहीं–नहीं, बाकी पद उनके लिए सहेज कर रखा है। सुनाऊँगी उन्हें।"

"कहाँ पर है तुम्हारे वह ?"

"वहीं, समुन्दर देखा है तुम ने ? और मरुभूमि ? जहाँ कभी पखेरू नहीं बोलते; एक भी पत्ता नहीं डोलता, एक भी तितली रंग नहीं भरती, जहाँ एक गंभीर स्तब्धता व्यापी रहती है। जहाँ तारों के दीवट में चाँद की छाया नहीं पड़ पाती, वैसी एक जगह, चहुँ ओर बालू के ढेर, बालू पर बालू का गुम्बज, जहाँ पुष्प में सुरभि नहीं भर पाती, बसन्त में कोकिला

नहीं कड़कती, शीत का यौवन हरीयाली में नहीं भर पाता, चारों ओर काले-कबरे साँपों का मेला, जहाँ अजगर भेक को निगला करता है। जहाँ भयानक पशु रहा करते हैं। मेरे तापसी वैसे एक स्थान पर हैं।"

"वाह-वाह, कौन कहता है तुम्हें उन्मादिनी? तुम तो जीती जागती एक कविता हो।",

"कविता?"—तूलिका उसे कठोर दृष्टि से देखने लगी।

"सच कहो तूलिका, तुम ने यह उन्माद का स्वाँग क्यों रच रखा है?"

तूलिका रो उठी—"मेरा सुरेश वेदाना चाहता था न।"

चुपचाप असित चिन्तित मुख से चल पड़ा।

—:०:—

अब शेष प्रहर के केसर प्रकाश में बैठी रात्रि रूपसी बिछुड़े पलों की स्मृति-लिपि श्वेत चन्दन से आँक रही थी। आकाश-हृदय से तारों का मेला उजड़ चुका था, केवल शुक्र तारा तब भी आकाश के माथे पर हीरक दीप उजियार कर बैठा था।

भोर की केसरिया वायु में मन्दाकिनी का मन्द मृदु उत्स प्रवाहित था, योगी–ऋषि के पूत वेद-गान की ध्वनि जैसे शत-शत गज दूर—हिमालय-शिखर-से बहकर विश्व में व्याप रही थी।

सारी गत गवेषणा के बाद असित के नेत्र-पल्लव भारी हो रहे थे। किन्तु निद्रा का लेश मात्र नहीं था। यन्त्रादि को हटा कर वह उठकर खड़ा हो गया, लगा उसे उसके हाथ-पैर पत्थर से भारी हो रहे हैं। दर्द से सिर फटा पड़ रहा है। उसने झटके दे दे कर हाथ-पैर सीधे किए, तब उद्यान में पहुँचा।

उद्यान के शेष प्रान्त में मार्बल का हौद–पानी से भरा हुआ। नित उसका पानी निकाल कर साफ़ किया जाता। ग्रीष्म काल में असित उसी में स्नान किया करता था। वह उसी ओर बढ़ा रात्रि-जागरण की क्लांति को स्नान कर दूर करना है।

पहुँच गया असित हौद के किनारे, और जब तक वह सोपान-श्रेणी को अतिक्रम करे तब तक उसकी दृष्टि पड़ गई सीढ़ी पर बैठी हुई, घुटनों में मुँह छिपाए उस नारी पर। उस गन्धित वेला में असित मुग्ध हो रहा। लगा उसे–जल से जल-कन्या निकल कर किसी के ध्यान में बैठी विनिद्र रजनी व्यतीत कर रही है। और ठीक उसी समय किसी एक विरहिनी की छाया उसके वैज्ञानिक मन में झाँकने लगी।

विचार उठा मन में तूलिका है यह। अभागिनी नारी एकान्त में सारी रात जागकर आँसू से प्रीतम के लिए कौनसी माला गाँथ रही है ? कैसा है इसका अटपट प्रेम। और तब वैज्ञानिक की रसहीन पोथी पर एक अपरिचित किन्तु चंचल छाया अस्पष्ट सी, अधूरी-सी पड़ गई।

पदध्वनि से नारी सचेतन हुई। देखा एक ने दूसरे को। हाँ-उसी अस्पष्ट प्रकाश में। देखा पलवहीन नेत्रों से असित ने उसे। देखा इस प्रकार जैसे उसे विराट विस्मय का परिचय हो रहा हो। अपने ही अनजान में असित ने सोहिनी का हाथ पकड़ लिया–"तुम जलदेवी। नहीं, नहीं। सोहिनी–वही सोहिनी–गिलहरी को चाहने वाली–वही सोहिनी।"

सोहिनी रोमाञ्चित सोहिनी ने हाथ खींच लिया, भागने लगी। असित सोहिनी का पथरोध कर खड़ा हो गया–"सोहिनी।"

सोहिनी संयत स्वर से पुकार उठी–"गुरुदेव।"

सोहिनी के उस स्वर ने पलभर में असित को प्रकृतस्थ कर

दिया, उच्चस्वर से वह हँस उठा—"कहाँ रख आई हो वह गिलहरी के जोड़े ?

"अतीत के आँचल में।" —मुसकरा रही थी सोहिनी।

"तुम, पहेली-स्वरूप नारी हृदय की वार्ता को तुम्हारे लिए ही छोड़ देता हूँ। इस पहेली को समझने की चेष्टा करना, याने स्वयं पागल बनना है। अबतक पहेली थी एक तूलिका ही, अब नम्बर दूना हो गया। हाँ, अब समझ गया—नारी मात्र एक पहेली है।"

"और पुरुष ?"

"सीधा साधा एक। मुझे विस्मय है सोहिनी, मौत पर हुकूमत करने वाली तुम। तुमको ऐसी कौनसी जरूरत, कौनसी शंका थी जिसके लिए कि तुमको पुरुष का यह वेश पहनना पड़ा ? वह कौनसी ऐसी भयानक स्थिति ने यह ऐसा वेश तुम्हारे हाथ में पकड़ा दिया ? मृत्यु को जीतने को बैठकर तुम जीवित के निकट हार गईं। किन्तु किस लिए ? विश्व के साथ ऐसा एक प्रतारण तुम्हें क्यों करना पड़ा ? कहो—उत्तर दो।"

हटात सोहिनी झुकी, असित के पैर तले बैठ गई—"मुझे क्षमा करो। मुझे शंका थी, सन्देह था।"

"किस पर ?"

"उस तापसी पर। कहीं सोहिनी की आकृति उन गिलहरी के जोड़े की याद न दिलादे उन्हें। कहीं विश्व की भलाई करने वाला उस योगी के योग-साधन में विघ्न न पहुँचावें।"

हसने जाकर भी असित हँस न सका। देर के बाद सहज स्वर से उसने कहा। "तो अब आशंका तो नहीं रही है न ?"

लज्जित सोहिनी मौन रही।

उसे देखता हुआ असित बोला—"मैं वचन देता हूँ सोहिनी।"

"किस बात का ?"

"निर्भय होने का अपने आप को मैं पहचानता हूँ।"—दोनों हाथों को हृदय पर रखकर काँपने लग गया असित—"इस हृदय के प्रण को मैं जानता हूँ। यह अपने पथ से, अपने विचार से हटेगा नहीं। समझी न सोहिनी ?"

सोहिनी ने अविश्वासपूर्ण नेत्र उठाए—"डाक्टर बाबू, यदि पहचानना ऐसा सहज होता, तो दुनियाँ में ऐसी भूल, ग़लतियाँ, अनाचार, अविचार, अन्याय होता ही क्यों ?"

असित खिन्नता से भर उठा—"वही अविश्वास। वही कलुषित सन्देह, किन्तु उस बात को भी कभी तुमने सोचने-समझने की चेष्टा की है ?"

"किस बात पर ?"

"यही, मनुष्य का विश्वास, आत्म-शक्ति। आज की वैज्ञानिक रीति का यह युद्ध इसका पूर्ण साक्षी है। कभी हमने कल्पना भी की थी कि आकाश पर से अग्निमय लोहे के गोले बरस कर शहरों को बर्बाद कर देंगे ?"

"क्यों नहीं ? महाभारत में रथ पर बैठ कर, मेघ की आड़

से युद्ध की न जाने कितनी ही बातें हैं। यह सब-याने एरोप्लेन आदि पुराकाल की नकलें हैं।"

"हो सकता है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह सब है मनुष्य की कल्पना, सूझ, तथा आत्मशक्ति का उत्कर्ष। अद्भुत अनहोनी, असम्भव के नामपर दुनियाँ में कुछ भी नहीं है। यह है आदमी की वह ताकत-जिसे देखकर एक दिन आदमी को बनाने वाला इञ्जिनीयर, जिसे कि लोग विधाता कहते हैं, हाँ, वही विधाता तक भयभीत हो उठा था।"

"विधाता डर गया था, गुरुदेव ?" मोहिनी मुसकरा रही थी।

"हाँ भाई, कह जो रहा हूँ। दौड़ाओ अपनी चिन्ता-शक्ति को उस सुनसान, विकराल प्रान्तर में, तब अतीत का चित्र साफ़ देख पाओगी। हाँ, उस दिन इञ्जिनीयर जब अपनी सृष्टि-इस मानव-को सृजकर गर्व से उसे देखने लगा, तब मानवने अवहेलना से उसे देखा, फिर अपने अंग-प्रत्यंग को हिला-डोलकर देखा। फिर वह कह उठा-"अनाड़ी सृष्टिकर्ता, यह तूने कैसी सृष्टि की ?"

"क्यों ?"

विद्रोही स्वर से मानव ने उत्तर दिया-"बेवकूफ़ कारीगर, मेधा, मन, भावुकता आदि सब कुछ देकर भी अपने शिल्प को अधूरा क्यों रखा ?"

"अधूरा ?"-विस्मय से विधाता ने पूछा।

"अनाड़ी, और सब बातें ठीक हैं, हाथ हैं, पैर हैं, मन है— जो कि अपनी चिन्ता-धारा से अपनी ज़रूरत को पूरा कर सकता है। जैसा कि अभी-अभी उस मन ने अनुभव किया, परन्तु पंख कहाँ है ? शून्य में उड़कर अपनी ज़रूरत की पूर्ति कैसे कर सकेगा ?"

विधाता उस बुद्धि को देखकर चमतकृत हुआ। परन्तु उसके अहंकार को देखकर क्रुद्ध हुआ, बोला—"सृष्टि-कर्त्ता को बेवक़ूफ़ कहते हो ? इतना अहंकार। विनय से काम होता है।"

मनुष्य उच्च स्वर से हँसा—"विनय ? किन्तु क्यों, तुम से मेरी शक्ति कहीं बड़ी है।"

"बड़ी है ? फिर देखूँ बिना सृजक के कैसे तुम्हारी ज़रूरतें पूरी होती हैं।"

मानव इठला कर हँसा, वृक्ष के नीचे वह खड़ा था, एक डाल को लपक कर पकड़ा और नवा कर तोड़ लिया। फिर उसी डाल को लेकर विधाता के प्रति झपटा, भयभीत विधाता भागा, दूर खड़ा हुआ, कम्पित कलेवर, भयभीत अपनी सृष्टि को देखने लगा—कैसा रहस्य है यह ? आज उसी की सृष्टि उसे ही निगलना चाहती है, कैसा व्यंग है यह, आज उसी की सृष्टि हो गई उससे अधिक शक्ति-सम्पन्न।"

"अपनी ज़रूरत किस प्रकार से पूरी कर रहे हैं, देख लिया न ?" मानव ने हँस कर कहा।

"तो सृष्टि-कर्ता ही को मार कर ?" विधाता भाग निकला।

"यह खासी कहानी रच ली है तुम ने, गुरु देव।"

"कहानी ? नहीं सोहिनी। आज उसकी ताकत तुम स्वयं देख ही रही हो, यह विश्व-व्यापी युद्ध, किस तरह उस विधाता की सृजी हुई सृष्टि को मिटा रहा है। बस कमी है मात्र एक मौत को रोकने की। वह भी एक दिन वह खोज निकालेगा। मौत को वह जीतेगा ही। केवल ज़रूरत है अपने आप पर विश्वास रखने की, अपने आप की पूजा करने की।"

"अपने आप की पूजा ?"

"ज़रूर। मन्दिर में पूजा ? है मात्र स्वाँग।"

"तो मन्दिर में पूजा न की जावे ?"

"क्या जरूरत है इसकी ?"

"फिर किसे पूजा जावे ?"

"अपने आप को।"

"डाक्टर बाबू।"

"हाँ, मैं अपने आप का उपासक हूँ, विस्मित हो रही हो सोहिनी ?"

मैं जानता हूँ, मानता हूँ–मैं किसी से भी छोटा नहीं हूँ। उस विधाता से भी नहीं।"

सोहिनी-विस्मय से उसे निहारने लगी।

उस दृष्टि को देखकर असित हस उठा।—"चलो, देर हो रही है। आज सब लोगों से नवीन वस्तु का परिचय भी तो

करवाना है न, बात करते करते वक्त का ध्यान न रहा।"

"कोई नई चीज़ खोज निकाली है क्या ?"

"हाँ।"

"कौन सी ?"

"सोहन से सोहिनी देवी का परिवर्तन।"

"नहीं-नहीं, इस वेश में मैं नहीं जा सकूँगी।" दोनों हाथों से सोहिनी ने मुँह ढक लिया ?"

"छिः, ऐसी कमज़ोरी।"—उसके हाथों को हटाकर असित कहने लगा—

"सोहिनी-तुममें ऐसी कमज़ोरी शोभा नहीं देती। चलो।"

दोनों चल पड़े।

—:o:—

Love is

blind

सो उस उन्मादालय की विचित्रता में नित नवीनता पनपती। जैसे विश्व से समता रखता वह उन्मादालय–कहीं रोदन, कहीं हास्य, कहीं मृत्युका उल्लास।

उस झमेले से हटकर साधना-गृह में बैठा था असित, विस्मय-विस्फारित नेत्रों से। सामने रखा था सोहिनी के हृदय का एक्सरे प्लेट। उस स्तब्धता में अनेक प्रश्न उत्तर मन में उठ रहे थे, यह नारी मौत की आवेष्टनी में बँधी बँधी जीवन में प्रलय की कौनसी रागिनी आलाप रही है? आत्म-शक्ति का कौनसा महा मन्त्र आँचल में बाँध लाई है? मौत को चुनौती देकर दुनियाँ में जी रही है। स्वस्थ की भाँति काम करती है। किन्तु क्यों ?"

"यह फ़ोटो जीवित का लिया गया था या मृत का ?"

चौंक कर असित ने पीछे देखा। उसके चेयर से टिका हुआ सुनील पलकहीन नेत्रों से उस फ़ोटो को देख रहा था।

"जीवित का।"

"अब भी जीवित है? परिचय है तुम से ?"

"ठहरो-ठहरो, पहले एक एक प्रश्न का उत्तर दे लें।"

शरबत का ग्लास हाथ में लेकर सोहिनी पहुँच गई। सुनील ने उसे देखा और देखता ही रह गया। विस्मित था सुनील उस नारी की आकृति में अङ्ग-प्रत्यंग में ऐसी कौनसी वस्तु है, जिस की ओर से आँखें हटनाही नहीं चाहती? तूलिका भी रूपवती है-परमरम्य रूपसी। किन्तु इस आकृति में ऐसा कुछ है, जो कि प्रथम दृष्टि-पात ही में दर्शक के मन में अपना एक घर बना लेता है। है एक विशेषता परन्तु कैसी विशेषता है, सो चेष्टा करने पर भी सुनील समझ नहीं पाया।

सुनील को दृष्टि गड़ाकर देखते हुए देखकर सोहिनी अस्वच्छन्दता अनुभव करने लगी।

"आपके लिए भी सन्तरे का सरबत लाऊँ?"-सरल संयत स्वर से पूछा सोहिनी ने।

"धन्यवाद। किन्तु इस समय शरबत न लूँगा।"

"तुम ने इसे पहिचाना नहीं सुनील?" पूछा असित ने।

"मैं? शायद नहीं"

"इस में भी शायद? अजी साफ़ कहो न।"

"कुछ कुछ तो पहचानता हूँ।"

"कौन है?" कौतुक अनुभव कर रहा था असित।

"और यदि मेरा अनुमान ग़लत हुआ?"

"तो बस फाँसी।"

"मज़ाक करते हो।"

"न जाने कितने नखरे करोगे।"

"सोहन यही हैं।"

"कैसे पहचाना ?"

"ये आँखें भी कहीं छिप सकीं हैं ?"

"आँखें ?"

"हाँ, पहले ही दिन मुझे लगा था यह स्त्री हैं।"

असित हँसने लगा—"बैठो न तुम दोनों।"

दोनों बैठ गये।

"किन्तु उस काया-कल्प में इनका नाम क्या हुआ ?"

"अन्दाज़ लगाओ।"

"सोहिनी।"

"अब मेरे ही पीछे पड़े रहेंगे आप दोनों या और भी कोई बात है ?"

"इस फ़ोटो का परिचय सुनील, अब इन्हीं से पूछो।"

"इस हृदय की अधिकारिणी मैं ही हूँ सुनील बाबू।"

एक सहानुभूति पूर्ण विस्मय से सुनील केवल उसी की ओर आँखें उठा सका।

"एक बात।" सुनील ने कहा।

"तुम से नहीं सोहिनी देवी से पूछना है।"

"कहिये ?"

"इस छद्म वेश का कारण क्या पूछ सकता हूँ ?"

सोहिनी-असमञ्जस में पड़ी, उत्तर दिया असित ने उसकी हुए—"इस पर वारण्ट था।"

"कैसा वारण्ट ?"

"स्वदेशी में काम करती थी न।"

"अच्छा देश-सेवा के नाते विख्यात—यह वही सोहिनी देवी हैं ?"

"हाँ। अब तुम कहो, इतने दिनों तक तुम कहाँ रहे ? यहाँ से भी गायब, घर से भी, आखिर थे कहाँ ?"

"वाह वाह, मज़े का प्रश्न।" फिर सोहिनी की ओर मुँह उठाकर सुनील ने कहा—"इसी के लिए वो मैं मारा मारा फिरूँ, इसके अद्भुत ख़्वाब को पूर्ण करने के लिए भटकता फिरूँ और यही पूछे कि कहाँ थे ?"

"उसी पाताल-गृह वाली बात है न सुनील बाबू ?"—पूछा सोहिनी ने।

"हाँ। मिट्टी के अन्दर घर बनवाना वर्षों का काम है कि नहीं आप ही कहिये सोहिनी देवी। फिर वैज्ञानिक रीति से उन कमरों में अनाज रखना, अन्न बर्बाद न हो सके; ऐसी कितनी ही बातें। यह सब करना क्या कोई मज़ाक है। क्या यह दस दिन का काम है ?"

"भई चिढ़ते क्यों हो ? ऐसा क्यों नहीं कहते कि मेरे ही काम पर लगे हुए थे। मैं क्या जानूँ ?"

"भाई, काम वह कोई सीधा-साधा थोड़े ही था।"

"अब बाकी कितना है ?"

"ख़तम कर आया हूँ।"

"सच ?"

"नहीं तो क्या झूठ ? इस बार कौनसी विचित्र सूझ है ?"

"इस बार अन्तरिक्ष में घर बनाने की।"–कहा सोहिनी ने।

"सच सोहिनी देवी, यह घर में बैठा अदभुत ख्याल किया करता है, और मैं उन ख्यालों को पूरा करने के लिए जंगलों में मारा मारा फिरता हूँ, वह भयानक जंगल, बाघ-चीते घूमा करें, और मैं उन्हीं में घिरा इसका पाताल-गृह बनाने में लगा। बच गया, यह ईश्वर की कृपा समझो।"

"जिसे कि आज तुम लोग अदभुत ख्याल कर रहे हो, सुनील, देखना वही एक दिन विश्व के कौन से हित में, कौन से सत् उपयोग में लग जाता है वह। न मानो आज की तरीख लिखकर रखलो।"

"रहने भी दो। जिस अन्न को तुम सहेज कर रख रहे हो। उससे होगा भी क्या ? करोड़ों मनुष्य हैं पृथ्वी में, उनका एक दिन का भोजन भी तो नहीं हो सकेगा ? यह हरी सृष्टि जैसे इनके अन्न के बिना विनाश हो जायगी। देश की यह उपज, इसकी एकदम ही विनाश की कल्पना भी कोई कर सकता है ?

"क्या कहते हो ?"

"तुमसा उन्मादी के सिवा इसके विनाश की कल्पना कोई नहीं कर सकता है ?"

"आज तुम इसे हरी सृष्टि समझ रहे हो और इसका विनाश, तुम एक कल्पना समझते हो। क्या देख नहीं रहे हो

मानव की राक्षसी प्रवृत्ति आज किस प्रकार से जाग उठी है ? हाँ-वही प्रवृत्ति, जिस प्रवृत्ति का स्वभाव ही होता है हिंसा, ध्वंश जिस प्रवृत्ति की प्रवृत्ति ही होती है-मरुभूमि-सी पिपासा। और जिस स्वभाव की परितृप्ति होती है रक्त-पान में। क्या सोच भी सकते हो सुनील, इसकी निवृत्ति है कहाँ पर ?"

"तुम्हारे पागलखाने में । जैसे विश्व-मानव-शून्य ही हो जावेगा।"

उस परिहास-मिश्रित व्यंग को असित ने सुनकर भी न सुनना चाहा, कहा-"तुम्हारा कहना प्रायः ठीक ही है। एक दिन हम अपने हाथों अपने हृदय का रक्त बहायँगे, उस ताज़े रक्त को देखकर भी तृप्त न होयँगे। मोह को तृप्त करने का वही तो एक उपाय है न।"

"परन्तु असित यदि सृष्टि ही मिट जायगी, तो तुम्हारे उस सहेजे हुए अन्न को खायगा कौन ? आयगा वह अन्न किस के काम में ? तुम्हारे पागलखाने के जारों में रखे हुए कीट भी तो उतना अन्न नहीं चुका सकेंगे।"

इसबार सोहिनी न जाने क्यों सुनील के परिहास में योग न दे सकी। घन-पल्लवों से घिरे नेत्रों को असित के मुख पर प्रसारित किए वह बैठी ही रह गई।

अपनी धुन में मस्त कह चला असित-"और यदि उस दिन बचे हुए मनुष्य में से दो दस के काम में भी लग जाय मेरा

सहेजा हुआ यह अन्न, यदि इस अन्न से दस-बीस भी मौत से बच सकें तो भी यथेष्ठ समझूँगा।"

"तो असित, धरती में उस दिन घास-पात ही उपजेगा ? अन्न नहीं ?"

"फिर अन्न को उपजायगा कौन ?" कह उठी सोहिनी।

प्रफुल्ल, तृप्त मुख से असित ने सोहिनी को देखा। कहा—"मित्र, तुम मेरे विचार को समझे हो। हाँ, क्या कर रहे थे सुनील ? और यदि अन्न कोई उपजाना चाहेगा भी, तो उपजायगा कहाँ ?"

"अच्छा, तो यह धरती भी अलोप हो जायगी ?"

"देखो आँख पसार कर सुनील। गोला-बारूद आदि के उदगीरीत धूम के नीचे विश्व की स्वाभाविक उत्पादन शक्ति आज किस प्रकार से क्षीण होती जा रही है। विधाता की बसाई हुई सृष्टि आज किस प्रकार से मानव के बज्र-प्रहार से विनाश के अग्निकुण्ड में समाती जा रही है। धरती का तन रक्त से भर उठ रहा है। कहीं अति वर्षा है, कहीं अनावृष्टि। एक ऐसे वातावरण में किस वस्तु की हम आशा कर सकते हैं ?"

आगत हास्य को रोकता हुआ बोला सुनील—"ऐसा ! अब समझा ! याने तब रहोगे तुम और तुम्हारी सूझ।"

असित हँस पड़ा—"तुम्हारी परिहास-प्रवृत्ति सदा एकसी रही आयगी। किन्तु मुझे विश्वास है एक दिन हो जायगा युग का परिवर्तन। यह सब कुछ न रहेगा।"

"भाई, क्या कह रहे हो ? कुछ न रहेगा ?"

"हाँ, रहेगा केवल विज्ञान का चमत्कार। वैज्ञानिक रीति से नित-नवीन सूझें आया करेंगी। मानव की जीवन-यात्रा की रीति सहज, सरल हो जायगी। रहेगा विश्व में एक मेल, एक छन्द। और मेल में बसा जीवन तृप्तता से भर उठेगा। युद्ध के अवसान में होगा मानव-शक्ति का उत्कर्ष। और तब शायद यह सहेजा हुआ अन्न लग जायगा काम में। भूलो मत। मैं मौत को जीतने का पुजारी हूँ।"

"अच्छे पागल के हाथ में पड़ा हूँ।"

"देखना कहीं तुम भी पागल न बन जाओ।"

"एक बार पूछूँ ?" सोहिनी बोली।

"कहिये।"

"यदि आप स्वयं उन बातों को ख्याल मात्र समझते हैं, तो फिर स्वयं आप ही उन कामों को करने को दौड़ते क्यों हैं ?"

उस बुद्धिमती नारी की ओर सुनील ने देखा, फिर बोला—"आपकी आँखों में धूल डालना ज़रा कठिन है।"

तीनों हँस उठे और ठीक उसी पल में अपनी मुट्ठी को खोलती और बन्द करती हुई तूलिका वहाँ पहुँच गई—"सब झूठा है—सब झूठा।"

"बैठो तूलिका।"—सोहिनी ने कहा।

उन्मादिनी के नेत्र तब असित के मुख के प्रति आवद्ध थे। कहने लगी वह "राक्षस, प्रतारक, अब कौनसे खेल को खेल

रहे हो ? एक दिन मेरे सब कुछ को छीन कर तुम ले गये। अब किस को ठगना है ?"

उसके अन्तिम वाक्य से सुनील चौंका कि हाथ की किताब ज़मीन पर गिर गई । उसका चौंकना सोहिनी से छिपा नहीं रह सका ।

"तूली, बैठ बहन ।"–सोहिनी ने उसे हिलाया ।

"ही ही–ही ही"–कहती हुई वह सोहिनी से लिपट गई ।

"सोहिनी को तूलिका बहुत चाहती है, उसका कहना इतना मानती है सुनील, कि वह एक अचम्भा है ।"

"हूँ ।" कहा अनमने सुनील ने ।

असित के वाक्य से तुलिका सोहिनी से हटकर खड़ी हो गई फिर चिल्लाती हुई भाग गई–"दीदी, दीदी बचो, यह तुम्हें निगल जायगा । धोखा देगा–धोखा-धोखा, सब झूठा है सब झूठा ।"

विषादयुक्त खिन्नस्वर से सोहिनी ने कहा–"इस उन्मादालय के कितने ही उन्मादी स्वस्थ होकर घर चले गये, किन्तु अभागिन तूलिका वैसी ही रह गई ।" उसके बाद आत्मगत भाव से कहने लगी–"पूर्ण उन्माद भी तो इसे नहीं कहा जा सकता है । कभी–कभी ऐसी ज्ञान की बातें करती है, डाक्टर बाबू, मुझे तो सन्देह है ।"

"कैसा ?"

"यह उन्माद का स्वाँग रचे हुए है ।"

परम गंभीर मुख से असित ने उत्तर दिया–"नहीं । पूर्ण

उन्माद यह नहीं है। कोई गहरे आघात ने इसकी समझ का कुछ अंश बर्बाद कर दिया है।"

"तो ?"—उत्सुकता से पूछा सोहिनी ने।

"मुझे विश्वास है एक दिन यह अच्छी हो जायगी।"

"जब यह अच्छी रहती है, तब बहुत सी बातें कहती है।"

"मुझे तो इसने ऐसा डाँटा कि क्या कहें।" असित और सोहिनी दोनों ही हँस पड़े।

परन्तु सुनील उस हँसी में योग न देसका, वह चिन्ता क्लिष्ट मुख से वैसे ही बैठा रह गया। सोहिनी ने एकबार विस्मय से उसे देखा, फिर चलदी।

—:o—

वह नारी-जो कि विज्ञान मन्दिर में एक घुर्णमान किन्तु मूक यन्त्र की भाँति विरामहीन कार्य करती फिर रही थी, वह धान की हरी बाल सी नवती, दुर्वादलसी श्री सम्पन्न वह नारी पहुँच गई सर्व प्रथम उस कुष्ट व्याधि ग्रस्त रोगी के निकट। सर्वांग से पीप बह रहा था। यन्त्रणा से वह कराह रहा था।

सोहिनी उसके सिरहाने बैठ गई, पूछा-"ज्यादा तकलीफ़ हो रही है ?"

"बहुत, मैं मर जाऊँगा रानी माँ। यह तकलीफ़ सही नहीं जाती।"

"घबराओ मत। अभी डाक्टर बाबू को बुलाती हूँ।"

"अब दवा नहीं। जीना अब नहीं चाहता।"

"धीरज धरो। अपने आत्म-बल को बढ़ाओ। रोग को जीत लो। नहीं कैसे ? आत्मबल ही रोग पर जय कर सकता है।"

"रानी माँ, मैं चला।"

"उन्हें बुलाती हूँ।"

पहुँची सोहिनी असित के रुद्ध विज्ञानागार में । वह तब कीटाणु का मनोयोग से निरीक्षण कर रहा था ।

"डाक्टर बाबू ।"

असित चौंका । अलसाई हुई नेत्रों से उसे देखा और देखता ही रह गया ।

उस दृष्टि को देखकर सोहिनी चकित हुई, कठोर हो पुकारा "डाक्टर बाबू ।" असित जैसे सोते से जागा । अपनी लज्जा को छिपाने जाकर दूसरी लज्जा की सृष्टि कर बैठा–"तुम समय–असमय में आँधी की तरह पहुँचकर मेरी एकाग्रता को छिन्न–भिन्न क्यों किया करती हो सोहिनी ?"

"आँधी हूँ मैं ?'

"हाँ-हाँ, उद्याम झटिका ।"

"और एकाग्रता को छिन्न-भिन्न भी कर देती है वह झटिका ? तब ऐसा कहो कि तुम्हारे एकाग्रता का मूल्य उस झटिका के निकट कुछ भी नहीं है ।"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं । मेरी एकाग्रता को लूट लेती है वह जंगली झटिका ।"–अपने कौतुत से इसबार असित स्वयं ही हँस पड़ा । और सोहिनी ? रोमाञ्चित, पुलकित सोहिनी जैसे उन शब्दों को आकण्ठ पानकर तृप्ति का आनंद लेने लगी ।

"आखिर बात क्या है ?"

"दस नम्बर का रोगी तकलीफ़ से चिल्ला रहा है ।"

"मैं अभी नहीं जा सकता हूँ ।"

"नहीं जा सकते हो ?"

"कह जो रहा हूँ-कि नहीं ?"

"तो वह मरे ?"

"और मेरे रहते हुए भी।"—इस दाम्भिक दृढ़निश्चयता से कहे गये ये शब्द, मानो कहने वाला स्वयं जन्म-मृत्यु का निर्णायक हो।"

सोहिनी अवाक विस्मय से उसे देखने लगी।

असित उठकर खड़ा हो गया—"चलो।"

चलते चलते असित कहने लगा—"तुम आँधी हो मित्र, आख़िर मुझे लेकर ही तब चलीं।"

बात सीधी और सहज थी-और कदाचित सहज परिहास ही रहा हो,, किन्तु फिर भी सोहिनी के ललाट पर बिन्दु बिन्दु स्वेद झलकने लगे, श्वास भारी भारी हो उठा। असित की दृष्टि पड़ गई सोहिनी के मुख पर, वह चलते से रुका, "पसीने से डूब रही हो ?"—कहता रूमाल निकाल कर पोंछ दिया। सोहिनी चुपचाप खड़ी रह गई।

"तुम अब तक जी रही हो ?"-सहसा वैज्ञानिक ने पूछा।

"तो मर जाऊँ ?" उस का गंभीर मुख तरल हास्य से बालिका सा सरल हो उठा। हँसी के झोंके से वह काँपने लगी।

"कब की मर गई होती, फिर यों कहो कि मेरा रसायन तुम्हें जिला रहा है। इनजेक्शन रोज़ ले रही हो न ?"

"नहीं।" खुली हँसी तब भी उसके मुख में, शरीर में किलकारियाँ भर रही थी।

"तो ?"

"सच सुनना चाहते हो या झूठ ?"

"सच।"

"तुम्हारी दवा कभी नहीं पी ? दवा की मुझे जरूरत नहीं, न इनजेक्शन की।"

"झूठ।"

"मित्र पर भी विश्वास नहीं ?

"दवा नहीं, कुछ नहीं, उस पर मशीन की भाँति काम करती हो। आश्चर्य, अदभुत हो तुम सोहिनी। सोचता हूं– किस मंत्र के बल पर तुम जी रही हो।"

"उसी मन्त्र के बल पर।"

"कौन सा मन्त्र मुझे न कहोगी, सोहिनी ?"

"तुम्हारा ही तो दिया है वह मन्त्र गुरू देव।"

"मेरा दिया हुआ मन्त्र ?"

"भूल गये—और ऐसी जल्दी ?"

"कहो सोहिनी ?"

"समुद्र के किनारे दो बँगले, एक बालक, एक बालिका, वह गिलहरियों का उत्पात, कपास कातता हुआ बालक, दे रहा था बालिका को कुछ उपदेश, याद है डाक्टर बाबू ?"

असित ने निबिड़ विस्मय से उसे देखा।

"क्या देख रहे हो गुरूदेव ?"

"तुम को शिक्षा देने का अभिमान असित नहीं रखता है।"

"गुरूदेव।"

"तुम्हारी आत्म-शक्ति कहीं मुझ से दसगुन अधिक है।"

"झूठ। कोरी कल्पना, मेरे शिक्षा गुरू तुम ही हो। यहाँ आकर मैंने जो सीखा, जो पाया उसकी तुलना नहीं है संसार में।"

"शायद ऐसा हो, किन्तु कभी मैं सोचता हूँ सोहिनी, तुम सी तेजस्विनी, कभी जन्मी थी या नहीं ?"

वेदना से सोहिनी का सुश्री मुख पीला पड़ गया, आर्तनाद सा उसका स्वर ध्वनित हो उठा—"चुप-चाप। उसे मैं सुन नहीं सकती, अपनी भूल के नीचे दबी दबी एक जीवित भूल बन बैठी थी, याद है न उस दिन की बात ? पूछा था मैंने—भूल यदि भीषण तर हो तब ? उदार मुख से बोले थे तुम—तो भी, भूल चाहे सांघातिक क्यों न हो, फिर भी वह मनुष्य के सत्‌गुणों को ढाँक नहीं सकती है, उस पर भूल जय नहीं पा सकती है, भूल का मूल्य आदमी से बड़ा नहीं हो सकता है, पहले हो तुम आदमी फिर है तुम्हारी भूल। याद हैं न वे बातें ? उन्हीं ने मुझे जिलाया, मुझे बचाया।"

"सोहिनी—सोहिनी—"

"चलो देर हो रही है, वह बेचारा बेचैन है।"

असित और सुनील उस दिन एकत्र भोजन पर बैठे थे, परोस रही थी सोहिनी।

अपने थाल के प्रति देखकर सुनील हँस कर बोला—"तो सोहिनी देवी, तुम ने मुझे राक्षस ही समझ रखा है ?"

उसके स्वर में स्वर मिलाकर बोला असित—"यों रोज़ मुझे अकेले ही देवी जी को अत्याचार सहना पड़ता है, आज तुम साथी मिले।"

"स्नेह क्या, अत्याचार कहो।"

दोनों हँसने लगे।

निकट बैठी सोहिनी सुनील को देखने लगी, यों वह नित ही उसे देखा करती थी, परन्तु आज सहसा उसकी दृष्टि में एक जानकारी भर उठी, बोली—

"आपका चेहरा उस लाकेट से बहुत सा मिलता है सुनील बाबू।"

"कौनसा लाकेट ?"—उभय ने पूछा।

"वही तूलिका के हार में जो है, देखिये न, मेरे आँचल में तो बँधा हुआ है हार, नहाते समय उसके गले से गिर गया था। इसी लाकेट में एक छोटा सा फ़ोटो है, देखिये।"

आँचल से हार निकाल कर सोहिनी ने लाकेट को खोला, फिर उस खुले हुए फ़ोटो को टेबिल पर रख दिया।

फ़ोटो पर दृष्टि पड़ते ही असित चिल्ला उठा—"सुनील है, सुनील, वही किशोर सुनील।"

परन्तु परम विस्मय से सोहिनी ने देखा—सुनील के मुख के भाव का तिल मात्र भी परिवर्तन न हो पाया।

"तूलिका आप ही की पत्नी है?"—पूछा सोहिनी ने।

"अरे यही उन्मादिनी है गाँव की वही तरला ?" अचम्भे से पूछा असित ने।

सोहिनी कह रही थी—"देखो तो-कभी-कभी कैसी अनहोनी भी हो जाया करती है, कभी किसी ने सोचा भी न था कि पगली तूलिका कभी तूला देवी बन बैठेगी, आप बोलते क्यों नहीं हैं सुनील बाबू। क्या यही पगली है तरला, आप की स्त्री, परन्तु एक लाकेट उसके पास रहने से इसका प्रमाण नहीं हो सकता है। शायद यह लाकेट उसे कहीं पड़ा मिला हो।"

सिर हिलाता हुआ असित कहने लगा—"यही है-यही-यही। मैंने सुना था तरला का छोटी अवस्था में एक बच्चा होकर मर गया था, और उसके बाद नदी के बाढ़ ने ग्राम को निगल लिया था सच है न, सुनील ?"

सुनील ने केवल सिर हिलाकर अपनी सम्मति दी।

बोली सोहिनी-"कभी-कभी वह अच्छे आदमी की भाँति बातें किया करती है न, एक दिन कह रही थी, बाढ़ की रात में वह किसी काम से दूसरे गाँव में गई थी। लौट कर उसने वहाँ केवल अथाह जल पाया था, इस लिये वह बच गई थी।"

"तभी तो बच गई वह, अपने पति के विषय में और कुछ कभी कहती है वह, सोहिनी ?"-पूछा असित ने।

"हाँ,—बहुत सी बातें, आप को तो विश्वास न आया होगा, सुनील बाबू, तूलिका के तरला होने का ?"

"मुझे ?"

हाँ,—आप से पूछ रही हूँ।"

"तरला तो यही है न।"

"यह तरला है ? और आप पहले से जानते थे ?"

"हाँ।"

उत्तर सुनकर विस्मय का आर्त चीत्कार निकल पड़ा सोहिनी के कंठ से। गृह नीरव हुआ।

"चलो ड्राईङ्ग रूम में।"—देर के बाद असित ने कहा।

उसी मौनता में तीनों उठकर ड्राईङ्ग रूम में पहुँचे।

और तब किसी प्रकार भूमिका बाँधे बिना ही सोहिनी बोली—"अद्भुत प्रकृति के आप आदमी हैं, सुनील बाबू।"

"ऐसा क्यों ?" असित ने पूछा।"

"जान बूझ कर भी एक नारी को, एक पागल को इतने अन्धकार ही में रखा, अद्भुत नहीं तो क्या हैं ?"

सुनील चेयर पर सीधा होकर बैठा, फिर पाईप सुलगा लिया, तब कहीं उलटे सीधे सोहिनी के मुख पर अपनी आँखें गड़ाकर कहा—"किन्तु सन्तान-घातक पिता को भी कहीं पारिवारिक सुख का अधिकार रहा करता है ?"

बात थी छोटी, परन्तु मनुष्य का कौनसा दुख, अनुताप

उसके मुँह से ऐसे शब्दों को निकाल सकता है, इसे सोचकर सोहिनी सिहर उठी।

असित चुपचाप दोनों की बातें सुनने लगा।

बोली सोहिनी—"परन्तु आदमी की एक भूल कभी अनेक भूलों की सृष्टि कर बैठती है। कभी एक अनिच्छा-कृत अपराध, अनेक वास्तविक अपराधों की सृष्टि करता है, आप तो जानते ही होंगे।"

"भूल ? नहीं अपराध कहो, अपराध कहो, सोहिनी देवी।"

"अपराध ?"

"हाँ, कुछ अपराध ऐसा भी हुआ करता है, जब कि आदमी अपने आप को क्षमा नहीं कर सकता है। इससे और कुछ नहीं कह सकता हूँ, सोहिनी देवी।"

"सुनील बाबू—"

"हाँ, आज का सत्य मेरे लिए है यही ही।"

"और उसके लिये ?"

"अपराधी पति और सन्तान-घातक पिता के लिए नारी के मन में कोमलता, स्नेह आदि कुछ भी नहीं बच पाता है। सो आप स्वयं ही देख रही हैं। उसके मन में शेष बच रहता है विश्वासघ्रासी विद्रोह।" परम शान्त मुख से उत्तर दिया सुनील ने।

"हो सकता है, किन्तु तो भी अपने कर्म का जो परिणाम, जो उत्कर्ष निकलता है उसे तो हाथ पसार कर लेना ही पड़ जाता है न, सुनील बाबू।"

"परिणाम ? याने शास्ति, किन्तु पूछता हूँ, सोहिनी देवी, इस से भी बढ़कर सज़ा दुनियाँ में और क्या हो सकती है ? उन्मादिनी पत्नी और उसको उन्माद होने का कारण उसी का पति, पुत्र-शोक से हाहाकार करती हुई नारी, जीवन का नग्न व्यंग और क्या हो सकता है ?"

सोहिनी ने सहानुभूति-पूर्ण नेत्र उठाए—"परन्तु यही है जीवन का कठोर सत्य, उसे सहन हम ही मानव को करना पड़ेगा, उसे ला रही हूँ, सुनील बाबू।"

थोड़ी देर के बाद तूलिका की आवाज़ सुन पड़ी—"आ गए हैं वह ? मेरे वह ? सुनाऊँगी दीदी उन्हें गान—पूरा गान। चलो-चलो, कहाँ हैं वह ?"

सोहिनी का हाथ पकड़े हुए तूलिका ने गृह में प्रवेश किया। सुनील के सामने वाली चेयर पर तूलिका को बैठाकर सोहिनी ने कहा—

"यही हैं तुम्हारे वह, लो सुनाओ उन्हें गान।"

तूलिका चहुँ ओर देखने लगी।"

इन्हें देखो बहन, इन्हें, यही हैं तुम्हारे वह।"

तूलिका आँखे गड़ाकर सुनील को देखने लगी; देखते देखते उसने अपनी साड़ी के आँचल से सिर को ढाँक लिया।

"लो अब सुनाओ इन्हें गान।"

सहसा तूलिका चिल्लाकर रो उठी—"दीदी, दीदी, यह तुम किस के पास ले आई हो मुझे ?"

"तुम्हारे पति, तुम्हारे वह, यही हैं न, बहन ?"

"झूठ-झूठ-झूठ।"

"झूठ ? दीदी भी कहीं झूठ कहा करती है ?"

तूलिका ने सोहिनी को देखा फिर बोली—"दीदी झूठ नहीं कहती, इनके स्थूल शरीर ने उनके दुबले शरीर को चुरा लिया है, उस चेहरे को इस लुटेरे ने अपनी मूछों के भीतर छिपा रखा है, उनके रेशम से काले बालों को इसने अपने सफ़ेद बालों के भीतर छिपा रखा है। यह किस चोर, नहीं—नहीं, डाकू के पास तुम मुझे ले आई हो, दीदी ?"

"तरला, यदि तुम्हारे दरवाज़े पर खड़े उनको आज तुम्हीं न पहचानो, चोर, डाकू लुटेरा कहो, तो मैं कहूँगी क्या ?"

"तुम झूठी हो।"

" दीदी कहीं झूठ कहती है ?"

वह गुनगुना कर कहने लगी—"दीदी झूठ नहीं कहती हैं, कह नहीं सकती हैं। दीदी मेरी—रानी—दीदी।"

"बड़ी समझदार है मेरी तूली बहन। लो अब सुनाओ इन्हें वह गाना। पूरा करो आज गाने को।"

इसके बाद वह तीनों देखकर विस्मित हुए तूलिका शान्त होकर, सिर को ढाके हुए चुपचाप बैठी रह गई। परन्तु अपने उनको गान सुनाने का आग्रह उसका बिलकुल ही लक्षित न हुआ।

"अब बैठ गई दुलहिन बनकर। तुम तो कहा करती थीं न

बहन, कि उन्हें माला पहनाओगी। आरती उतारोगी, ऐसा करोगी। गान सुनाओगी। और युग के बाद जब वह आए, तब बैठ गई बहरी, गूँगी बनकर।"

वह फुसफुसा कर कहने लगी–"गान तो सुनाऊँगी ही, किन्तु इन्हें नहीं।"

"तब किसको ?"

"इन्हें देखो इन्हें।"–तूलिका ने लाकेट खोलकर सोहिनी के हाथ पर रख दिया।

"बस इन्हीं से तो मेरी पहचान है। इन्हीं के लिए तो सब कुछ सहेज कर रखा ही है दीदी। कितने सुन्दर हैं यह।"

सोहिनी के नेत्रों में जलभर आया–अभागिनी नारी आज पति को भी नहीं पहचान सकती। कदाचित् बीस-पच्चीस वर्ष पहले के अपने युवक पति को सुनील के वार्धक्य में खोजती फिरती है। है भी कैसा यह जीवन का कठोर, असंवध्य परिहास।

"और इन्हें ? क्या इन्हें तुम बिलकुल नहीं पहचानती ?" आँसू पोंछकर सोहिनी ने तूलिका से पूछा ?

वैसे ही धीमी-धीमी वह बोली–"कुछ कुछ पहचानती हूँ। इन्होंने तो मेरे उनको अपने मोटे ताजे शरीर के भीतर छिपाकर रखा है।"

तीनों के नेत्रों से आँसू बह निकले। दोनों हाथों से मुँह ढाँककर सुनील चुप हो गया।

—:o:—

विश्व का प्राङ्गण हास्य-रोदन से भरा रहता। असित के उन्मादालय में मात्र काज, नियम, खोज-निचोड़ की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहती। सुनील अब अधिकांश समय असित के यहाँ रहा करता।

यद्यपि तूलिका सुनील को पूर्णरूप से नहीं पहचान पाती, तथापि कदाचित पूर्व स्मृति की छाया दिन प्रतिदिन उसकी उन्नत होती रहती। दूरत्व, अपरिचित की परिधि में अपनेपन का ममत्व जागता। कभी वह सुनील के अति सन्निकट पहुँच जाती। कभी पूछती-"तुमने मेरे उनको कहाँ छिपाकर रखा है ?" कभी कहती-"तुम आए और इतने दिनों के बाद ?" कभी फूल-फूलक रो उठती-"मैं तुम्हें कैसे प्यार करूँ ? यह सफ़ेद बाल क्यों लगा रखे हैं ?

और सजल नेत्रों से उन्मादिनी पत्नी को देखते-देखते एक गंभीर ग्लानि, व्यर्थ हाहाकार से जी सुनील का भर उठता। परिहास-परिहास जीवन में कभी ऐसा रूढ़ परिहास का सामना उसे करना पड़ेगा-यह बात कब सोच सका था वह ? कौन जानता

था कि अतीत की यवनिका के भीतर उसके लिए एक ऐसा निर्मम सत्य, कठोर परिहास किसी ने सहेजकर रख छोड़ा है। झूठ को लेकर खेलते-खेलते एक ऐसे सत्य से उसकी भेंट हो जायगी, यदि इस बात को सुनील जान सकता पहले, तो कदाचित झूठ को लेकर खेलने ही क्यों बैठता ?

खेल ? प्रश्न उठता उसके मन में—यदि वह ही रहा हो तो जान-बूझकर उस खेल को वह खेलने को तो नहीं गया था, अनिच्छाकृत भूल यदि अपराध ही बन जाय, तो इसके लिये—

असित की चिन्ता में वाधा पड़ी —कब से तूलिका उसके निकट-सन्निकट एक दम उससे टिककर खड़ी थी, एवं अनति-दूर पर खड़ी सोहिनी मुस्करा रही थी, सो वह अपनी चिन्ता में भूला कुछ भी नहीं उपलब्ध कर पाया था। कह रही थी सोहिनी—"पहचान लिया न अब इन्हें ? हैं न वही ? दीदी कभी झूठ कहती ही नहीं, सुनाओ अब इन्हें गान।"

"हैं-हैं-वही हैं।"

"तो सुनाओ न इन्हें गान।"

"नहीं-नहीं-नहीं।"

"क्यों ?"

"वह गान उनके लिए रखा है न, सुनाऊँगी उन्हें ही वह गान।"

तूलिका आराम चेयर के हाथ पर सुनील के निकट बैठ गई, विनय से कहने लगी—

"अब दे दो मेरे सुरेश को, मैं उसे भर-पेट बेदान खिलाऊँगी।"

विस्मित, चकित, विमूढ़ सोहिनी ने देखा सुनील-सिहर सिहर कर दूर हट गया—जैसे कि प्रेत आत्मा से उसकी भेंट हो गई हो।

कठोर स्वर से सोहिनी ने पुकारा—"सुनील बाबू।"

"नहीं-नहीं आदमी इससे ज्यादा नहीं सह सकता है।"

"परन्तु जो भिखारिन झोली पसारे सामने खड़ी है तुम पुरुष से। उस की झोली पुरुष तुम, पति तुम, सूनी ही फेर दोगे ?"

"किन्तु सोहिनी सन्तान-घातक पिता पुनः सन्तान की भीख कैसे दे सकता है ?"

व्यथित वेदना से सोहिनी का चित्र मथित हो उठा, बोली दृढ़ता से—"तो भी, फिर भी नारी की इस माँग को पूरा करना है तुम्हीं पुरुष को। इसकी सूनी झोली आज तुम्हीं को भरनी है।"

"इतनी बड़ी सज़ा देते ज़रा दया भी न आई, सोहिनी ? ज़रा सोचकर भी न देखा कि मैं इसे दे सकूँगा या नहीं ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं। कल आकर इसे ले जाना, तूलिका तैयार रहेगी।"

"बहन, देवी सोहिनी।"

"कहो।"

"कठोर हो तुम, अति कठोर।"

सोहिनी खिल-खिला पड़ी–"क्यों सुनील भैया ?"

"भैया।"

"हाँ हाँ–फिर कहो।"

"भाई-भाई मेरे।"

स्नेह से सुनील ने उसके सिर पर हाथ रखा–"एक तुम सी मेरी छोटी बहन थी।"

"अब कहाँ है ?"

अँगुली द्वारा ऊर्द्ध लोक में दिखला कर सुनील ने कहा—"युग ही तो बीत गया है, सोहिनी उस बात को।"

दोनों के नेत्रों में आँसू भर आए। सहसा सुनील बोला—

"बहन, एक बात पूछूँ ?"

"पूछो।"

"तुम्हारा परिचय आजतक नहीं जान सका। असित से जब जब पूछना चाहा, शायद जान-बूझकर ही वह इसे टाल गया।"

सोहिनी खिन्न हँसो—"मैं तो सामने ही खड़ी हूँ, क्या मेरा परिचय भाई के निकट इतना यथेष्ट नहीं है ?"

"ज़रूर ही है। जाने दो इस बात को, एक बात और पूछना चाहता हूँ, मुझे लगता है—असित से तुम्हारा परिचय अभी का नहीं, बहुत पहले का है।"

उस दिन सुनील के हाथ में गिलहरी के जोड़े को देखकर सोहिनी विस्मय से विमूढ़ हो रही—"यह क्या है ?"

"गिलहरी हैं बहन, बड़ी दिक्कत उठानी पड़ी इनको मँगवाने में।"

"आख़िर इनका होगा क्या ?"

"क्यों न जाने, उस पागल ने मँगवाया है, होगा यह उस का कोई ख्याल।"

"डाक्टर बाबू ने ?"

"हाँ।"

सुनकर सोहिनी न जाने क्यों सिहर उठी, जी उसका अस्वच्छन्द-सा हुआ।"

"तुम को अभी अभी क्या हो गया है, सोहिनी ?"

"कुछ तो नहीं।"—सहम कर वह बोली।

"याद है न, आज तुम सबों का फ़ोटो लूँगा। कैमरा लाया हूँ।"

इतस्ततः कर सोहिनी ने कहा—"आज नहीं कल।"

बात सुनकर सुनील कम विस्मित हुआ; ऐसा नहीं था। परन्तु फिर भी वह कुछ बोला नहीं।

—:o:—

तब कदाचित पगली वधु तुलसी के नीचे सन्ध्यादीप उजियार कर, गले में आँचल लपेटे प्रणाम कर रही हो, परन्तु शहर में तब भी सन्ध्यादीप जलने में देर थी।

सन्ध्या के उसी मन्द प्रकाश में पलँग पर पड़ी सोहिनी तूलिका से कह रही थी—"नहीं-नहीं, कल तुम्हें जाना पड़ेगा। सुनील तुम्हारा पति है, समझीं ? एक दिन इसी सुनील में तुम्हारे मनके वह तुम्हें मिल जायँगे।"

वह दबी दबी सी कहने लगी—"दीदी झूठ नहीं कहती, झूठ नहीं कहती।"

"नहीं दीदी झूठ नहीं कहती। अपने मनके उस अटल, अचल विश्वास पर दृढ़ रहो, आत्म-शक्ति पर भरोसा रखो, वही शक्ति कभी एक दिन सुनील के भीतर से उन्हें खोज निकालेगी।"

"सब झूठा है-सब झूठा, बैठी हूँ उस पहले जन्म से उन की आशा में, नहीं आए वह। आया उन्हें चुरा कर उनका प्रेत।"

"नहीं, है वह तेरा वही प्रीतम, जिस दिन अपने विश्वास को खोयगी उसी दिन तू मरेगी अभागिनी।"

"मेरा सुरेश बेदाना चाहता था न दीदी।"

"फिर वही पागलों कीसी बातें, अरे पगली, देखना मुझे। कब की मर गई होती और चुड़ैल बनकर तुझे सताती।"

तूलिका एक दम खिलखिला पड़ी—"चुड़ैल-चुड़ैल।"

"चुड़ैल ही तूलि।"

"तो फिर ?"

"मुझे क्षय है। जानती हो न ? तो भी मैं जी रही हूँ। संसार का कहना है आत्म-शक्ति विश्वास के बल पर मैं जी रही हूँ। जीऊँगी। कीटों ने हृदय को चुन डाला है और मन की ताकत ने उन कीटों को दबा कर रखा है।"

"हूँ-हूँ।"—वह सिर हिलाती हुई कहने लगी—"हूँ-हूँ।"

"क्या ?"

"सब झूठा है। तुम घमण्ड करती हो ताक़त का। कभी भेंट हुई थी तुम्हारी भूकम्प से ? जो कि पलभर में दुनियाँ की ताकत को जीत लेता है ? नहीं ? और तुम बनी हो ताकत की पुजारिनी ? खोया था तुमने कभी एक अति प्रियतम को ? नहीं ? और तुम्हें अभिमान है आत्म-शक्ति का ?"—फिर उच्च स्वर से हँसती हुई वह कहने लगी—"खोकर मैंने पाया। खोकर मैंने सीखा। तब मन की समाधि में वह गान बाँधा, दुनियाँ की

आँखों में वह भी खटका। सब है झूठा।–अरी हीही-हीही। सुनती नहीं ?"

"क्या ?"

"उठोगी नहीं ?"

"क्यों ?"

"मैं भूखी जो हूँ।"

सोहिनी उठकर खड़ी हो गई, जैसे उसे कभी कुछ हुआ ही न हो, न ज्वर न कुछ। बोली–"चलो, भोजन कराऊँ तुम्हें।"

जबतक तूलिका ने तृप्तिपूर्वक भोजन न किया, तबतक सोहिनी उसके निकट बैठी रही।

"तुमने खा लिया है न दीदी ?"

"नहीं बुखार जो है।"

"झूठ। देखूँ ? अरे बापरे, आग की लपेटें निकल रही हैं, तुम्हारी देह से। रानी दीदी, सच-सच।" फिर उन्मादिनी न जाने कौनसे विचार में लीन हो गई।

दूसरे दिन उन्मादालय को विस्मित, चकित कर, एक विरीह शान्त नव बधु सी तूलिका पति के साथ कार पर बैठी चल दी। उसे कार तक पहुँचा कर जब सोहिनी लौटी, तब उसके सामने एक विकराल सूनापन बिखरा पड़ा हुआ था।

लगा उसे वह सूनी हो गई-एक दम सूनी। काम, काज में जी न लगता। काम करते करते कभी उत्कर्ण होकर जैसे एक उद्याम पदध्वनि की प्रतीक्षा करती। और पलभर हँसकर सोचती-

वह यहाँ कहाँ है ? पति के घर गई है न ? ईश्वर उसे सुखी करे, पागलपन अब नहीं के बराबर है।

फिर सहम कर सोचती छात्र गण मेरी प्रतीक्षा में बैठे होंगे, उन्हें अबतक चाय, जल-पान कुछ न मिला होगा। किन्तु यह ज्वर ? इन दिनों न जाने क्यों प्राय की ज़ोर का बुख़ार हो आया करता है। यह सब क्या सोच रही हूँ, कहती हुई सोहिनी उठी।

चाय-जलपान लिए जब सोहिनी असित के गवेषणागार में पहुँची तब दिन का प्रकाश धूसर हो चुका था। मोटी पुस्तक को आँखों के सामने से हटाकर असित सीधा होकर बैठा। बोला— "अभी अभी मैं तुम्हीं को सोच रहा था।"

"मुझे ?"–सोहिनी मुसकरा रही थी।

"आज न जाने क्यों ज़ोर की भूख लगी थी।"

"भूख भी कभी लगती है तुम्हें ?"

"क्यों क्या मैं आदमी नहीं हूँ ?"

"मुझे तो लगता है–"

"जानवर हूँ ?"–दोनो हँस पड़े।

सोहिनी की दृष्टि उस सुदृश्य पिंजड़े पर पड़ी, विस्मय का प्रथम आवेग कट जाने के बाद उसने पूछा–"यह गिलहरी के जोड़े कौन से काम में आयँगे ?"

जैसे भूली सी बात याद आगई असित को–"तुम्हारे लिए मँगवाए हैं, सोहिनी।"

"मेरे लिये ?"

उसके विस्मय को देखकर असित अस्वच्छन्दता अनुभव करने लगा। बोला—"सुनील हम सब का फ़ोटो लेना चाहता है, परन्तु गिलहरी के बिना तो अधूरी ही सोहिनी रह जाती हो न।"

"अतीत के दिन में लौटना। परन्तु इससे लाभ क्या है, डाक्टर बाबू ?"

असित ने चाय का प्याला उतार कर रखा—"फिर हानि भी क्या है ? यदि अतीत के उस एक दिन को पलभर के लिए देख ही लिया जाय, तो हानि ही क्या है, सोहिनी ?"

"गुरुदेव।"

"कुछ नहीं। तुम जाओ-जाओ।"

उस स्वर को सुनकर सोहिनी स्तम्भित हुई। पलभर उसने असित को देखा फिर निकलकर चल दी।

—:o:—

(२८)

पहुँच गया सुनील। न भूमिका की न अवतारण। सीधा बोला—"पहले मेरी बात पूरी करदो।"

परिहास से असित ने कहा—"वाह-वाह भाई, तो आज मैं अपने को वरदाता भी समझूँ?"

"चाहे जो भी समझो, परन्तु उसे पूरा तुम्हीं कर सकते हो।"

"तो वह ऐसा कौनसा अनमोल रत्न है?"

"अनमोल ही है।"

"कुछ कहो तो सही।"

"पहले हाँ कहो।"

"भाई रत्न ही सही। मैं वैसे ही दे दूँगा।

"सोहिनी।"

"सोहिनी क्या?"

"बस, उसे ही माँगने आया हूँ।"

"सोहिनी को?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"क्यों कि पड़ोस के बच्चे की मौत देखकर तूलिका पहले सी हो गई है। उसे सँभालना मेरे लिए असम्भव है। उसे सँभाल सकती है एक सोहिनी ही।"

"तो ले जाओ।"

"एक दिन के लिए नहीं।"

"तो ?"

"कुछ दिनों के लिए। फिर उन्हें यहाँ रख जाऊँगा।"

चिन्तित भाव से असित कहने लगा–"कुछ दिन-कुछ दिन।"

"मैं जानता हूँ–वह यहाँ पर क्या है ? उसके बिना यहाँ का काम चलना असम्भव है। तो भी माँग रहा हूँ। ज़रूरत ही ऐसी आन पड़ी है।"

"और तो कोई बात नहीं, किन्तु एक नये अनुसन्धान में मैं लगा हूँ। इस वक्त बड़ी अड़चन पड़ेगी।"

" यह तो मैं भी समझता हूँ, असित।"

"अच्छा ले जाओ फिर कब तक के लिये ?"

"एक माह शायद लगे।"

"अच्छा।"

"फिर उनसे पूछ लिया जाय।"

"उससे ? क्या ज़रूरत है ? मैं जानता हूँ वह आपत्ति न करेगी, उस जैसी नारी कोई स्थान विशेष या अवस्था विशेष के लिये नहीं जन्म लेती है। उस जैसी दृढ़ चित्त की नारी के

लिए घर और जंगल समान हैं। इस वक्त तो वह मरीजों को लेकर व्यस्त होगी। रात में खाते समय उससे कह दूँगा।"

रात्रि हो चुकी थी, टेबिल पर असित भोजन कर रहा था। नाना विध भोज्य सामग्री की सुगन्ध से कुछ दूर पर बैठी लोभातुर बिल्ली बार-बार जीभ निकाल रही थी, बाय–खानसामा पर्दे की आड़ में खड़े आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सोहिनी–भरे हुए प्लेटों को असित के सामने बढ़ा रही थी—"इसे तुमने छुआ तक नहीं, और सन्तरे की खीर, वाह वाह, इसे छुआ तक नहीं।"

"सच कहता हूँ सोहन, खिला-खिला कर तुम मुझे मोटा कर रही हो।"

वह हँसने लगी—चम्पा सी रंगीन सुगंधित हँसी।

"खाओ, ताकत मिलेगी।"

"ताकत ? फिर वह तो मन की चीज़ है। अपने आप को देखो, शरीर में तुम्हारे है ही क्या ? परन्तु तुम्हारी आत्म-शक्ति मुझ से दस गुना ज्यादा है।"

"तुम मुझे बढ़ाते हो डाक्टर बाबू।"

"बढ़ाता हूँ ? तो सुनील से पूछ लो, अरे हाँ, कैसा भूलता हूँ। सुनील आया था तुम्हें माँगने।"

"मुझे ?"

"हाँ, तूलिका को लेकर वह संकट में पड़ा है, तुम्हें रहना पड़ेगा कुछ दिन तक वहाँ, समझीं न ?"

उसके विवर्ण, व्यथातुर मुख को देखकर असित शंकित हुआ, आशंका से भरा-भरा वह चिल्ला उठा—"क्या बात है सोहन ?"

"नहीं-नहीं।"—एक आर्तनाद सा वह स्वर सुन पड़ा।

"बात क्या है ?"

"मैं नहीं जा सकती। यहाँ से मुझे कहाँ जाने को कह रहे हो ?"

विपुल उद्वेग, वेदना से असित उसे देखने लगा, देर के बाद वह उठा, फिर सोहिनी के निकट बैठकर धीरे धीरे उसके सिर में हाथ फेरने लगा।

× × × ×

रूद्ध, मौन कमरे के भीतर सोहिनी चुपचाप पड़ी हुई थी, बाहर से जंज़ीर बज उठी। सोहिनी ने उठकर द्वार खोला! असित खड़ा था। सोहिनी ने उसे बुला कर बैठाया।

बैठकर असित बोला—"आज भी सुनील ने लिख भेजा है सोहन, तुम्हारी उसे बहुत ज़रूरत है।"

"वहाँ मेरी है ?"

"हाँ।"

"और यहाँ ?"—सो भी न जाने क्यों पूछ बैठी सोहिनी।

असित निरुत्तर रहा।

कुछ देर उत्तर की प्रतीक्षा कर बोली सोहनी—"समझी! यहाँ अब मेरी ज़रूरत नहीं है।"

"तुम क्या कह रही हो ?"

"यही कि मैं जाना चाहती हूँ।"

"अभी ? ऐसी रात में ?"

"हाँ।"

"कल चली जाना। फिर तूलिका कुछ स्वस्थ हो ले तो चली आना।"

उसने कुछ भी उत्तर न दिया और ऐसी सहसा असित को प्रणाम कर वह निकल गई कि विमूढ़ असित कुछ कह सुन भी न पाया।

परन्तु इतना सब कुछ जिस के लिए हुआ-वही तूलिका तब तक पति गृह से भाग चुकी थी। सोहिनी की गाड़ी सुनील के द्वारपर लगी, उदास मुख से सुनील ने सोहिनी की अभ्यर्थना की।

"वह चली गई है, बहन।"

आघात को सँभाल कर सोहिनी ने कहा—"चलही बसी अभागिन। मुझे ख़बर तक न दी तुमने भैया ?"

"किन्तु मैं जानता भी कैसे सोहिनी, कि वह भाग जायगी ?"

"भाग गई ?"–सोहिनी का जी हलका हो गया।

"मैं समझी वह दुनियाँ ही से चल बसी।"

सुनील खिन्न हँसा।

"वहाँ जाकर तो देखो, शायद वहीं पहुँची हो।"

"खोजा था। वहाँ नहीं गई।"

"तो कहाँ गई ?"

चिन्तित मुखसे सुनील ने कहा—"मैंने चहुँओर आदमी ड़ाए हैं। कहीं पर भी उसका पता नहीं।"

"आश्चर्य है।"

"रात हो रही है, चलो तुम्हें घर पहुँचा दें। यदि कभी वह ली, तो जाकर तुम्हें ले आऊँगा।"

घर ? सोहनी व्यथा-विवर्ण हो गई। यदि उसका अपना घर होता, तो आज भिखारिन-सी घर से निकाली ही क्यों जाती ? निच्छा से उसे घर के बाहर जाना क्यों पड़ता ? घर उसका है कहाँ ? और तब दूसरे पल सोहिनी सोच उठी—मैं कहाँ ा क्या सोच रही हूँ ? किस छोटी बात के लिए सिर पीट रही ? अपने मनकी ताकत को किस तुच्छ बात पर उलझा रही हूँ ? तु फिर भी एक अपरिचित लज्जाने उसे सिर उठाने न दिया। पुरुष के सामने प्रतिष्ठा, अपनी मर्यादा को वह किस तरह में मिला दे ? कैसे कहदे कि अब वहाँ उसकी ज़रूरत नहीं ? कैसे कहे कि दो घड़ी पहले भी वह जिस घर की स्वामिनी वहाँ आज उसका कोई प्रयोजन नहीं है ? कहे कैसे कि– हाँ से आज वह चिर विदा लेकर आई है ? असित ने कोई र नहीं दिया था ? किन्तु मौनता में आदमी किस सत्य स्वीकार करता है, सो तो वह जानती है।

"गाड़ी खड़ी है बहन।"

सोहिनी को जीवन में अनेक आसामञ्जस्य से सामना करना ा था, सो ठीक है, सही है। परन्तु ऐसा आसामञ्जस्य शायद

ही जीवन में आया हो। उन सब में नारी का नारीत्व तो निविड़
नहीं हुआ था।

सोहिनी ने संयत मुख उठाया–"एक दिन तूलिका मि
जायगी। और तब तक मैं यहीं रहूँगी भैया। आप मेरे लि
व्यस्त न हों, वरन उसकी खोज करें।"

सुनील निकल कर चल दिया।

और जबतक कि सुनील शहर की अन्धकार भरी गलियों
भटकता फिर रहा था। तब तक रात की चुप्पी में उन्मादालय
एक कमरे से निकली तूलिका। फिर निःशब्द गति से असित
गवेषणागार में पहुँच गई–उसी एक दिन की भाँति।

गंभीर घृणा से वह असित को देखती हुई बोली–"उ
कौनसा विष दे दिया है ? जल्दी कहो।"

असित उस आवाज़ से ऐसा चौंका कि हाथ की शी
गिर पड़ी। तुम्हें शहर का शहर ढूँढ़ता फिर रहा है। अ
तुम यहाँ ? कब से आई हो तूलिका ? बैठो-बैठो।"

वह खिलखिला कर हँसने लगी–"कैसा छकाया। बहुत दे
से मैं छिपी हुई बैठी हूँ। कैसा छकाया ?"

असित विस्मय से उसे देखने लगा।

"यह कीटों का सत्त किस के लिए निकाल रहे हो ?"

"इससे संसार की भलाई होगी।"

"झूठ-झूठ। हत्यारा–कहो उसे कौनसा विष दिया ? उ
कहाँ गाड़ दिया है ?"

"मैंने ?"

"हाँ-हाँ तुमने ?"

"और किसे ?"

"मेरी दीदी को। यहाँ का मैंने कोना कोना देख लिया। वह हीं पर भी न मिली। जल्दी कहो कहाँ है सोहिनी ?"

"वह यहाँ पर कहाँ है-जो तुम्हें मिलती ?"

"वही तो पूछ रही हूँ। उसे ऐसा कौनसा विष दे दिया, जससे कि ऐसी जल्दी मर गई ?"

निरन्तर असित तूलिका को देखने लगा।

"क्या देख रहे हो ?"

"तुम को ?"

"क्या मैं कोई देखने की चीज हूँ ?"

"इतना अविश्वास करूँ ?"

"क्या मैं घातक हूँ ?"

"ऐसा अविश्वास लेकर आदमी जी कैसे सकता है।"

"तो मर जाऊँ ?"

असित उस की बातों से मुसकरा पड़ा।

"कहो डाक्टर बाबू उसे सच ही मार डाला ?"—इस बार सके स्वर में विनय था।

"मैं ? किन्तु क्यों ?"

"वह जीवित है ?"

"हाँ।"

"झूठ। यदि वह जीती होती तो यहाँ क्यों न दीखती
इस जगह को छोड़ कर वह पल भर जी भी सकती है ?"

निविड़ विस्मय से असित ने पूछा—"क्यों ?"

"वेवकूफ, अन्धे, पूछ रहे हो क्यों ? अपने को चाला
समझते हो ? क्यों ? कहूँ क्यों—अपने मन से पूछो।"

नत मस्तक से असित न जाने किस चिन्ता के अतल
डूब गया।

"उस बिचारी ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ?"

"क्या कह रही हो तूलिका ?"

"तो उसे मार क्यों डाला ?"

"किस पहेली के पीछे भटकती फिरती हो ? वह तुम्हा
ही लिए गई हुई है सुनील के घर।"

"सच कह रहे हो ?"

"विश्वास नहीं तो जाकर देखो।"

"नहीं-नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी।"

अच्छा, सवेरे उसे बुलवा दूँगा, अभी जाकर सो रहो
"शिष्ट बालिका सी–तूलिका चल दी।

—:o:—

(२६)

रात्रि के निपट चुपके में वह स्वर लहरी मानो आरती का दीप साजे देवमंदिर की आरती उतार रही हो। उस ध्वनि ने असित के वैज्ञानिक मन की ग्रंथियों को छिन्न भिन्न कर दी।

शीघ्रता से वह गाईका के निकट पहुँचा बोला—"रोको, रोको, इस दर्द की आह में संसार को जलाना न चाहो, इसे अपने ही में सीमित कर रखो। मैं इसे सुन नहीं सकता, सह नहीं सकता, रोको–उन्मादिनी–इस आह को रोको।"

"रोकूँ ? किन्तु क्यों ?"—वह पुनः गाने लगी।

"रोको, इस अधूरे गान को रोको।"

"अधूरा ? मैं अधूरी हूँ, तुम अधूरे हो, दुनियाँ अधूरी है। है किन्तु परिणति इस अधूरेपन में ही।"

विनय करता हूं तूलिका रोको, रोगी प्राण इसे सुनकर अधीर हो जावेंगे, नींद उनकी बर्बाद हो जायगी।"

"झूठ, स्वयं तुम इसे सहन नहीं कर सकते।"

"नहीं कर सकता सहन–नहीं ही।"

"क्यों ? "वह तीक्ष्ण दृष्टि से असित को देख रही थी।

"तुम नहीं कह सकते हो कि क्यों, किन्तु मैं कह सकती हूं। सुनाऊँ तुम्हें वह बात ? है धीरज उसे सुनने की ?"

"कहो।" कौतुक से असित ने पूछा।

तूलिका परम विज्ञ भाव से कह चली—"क्योंकि युग युगान्त का तुम्हारे ही अन्दर का वह बिरही, जोकि तुम्हारे ही अनजान में छाती के बीच में बैठा हुआ है, जिसके अस्तित्व के बारे में शायद अब तक तुम अनजान ही हो हाँ, वही बिरही विचलित हो उठता है। एक अस्पष्ट छाया मन में ऐंठ जाती है। जी रो उठता है, बेचैन लगता है—तुम्हारे लिये भी कोई यों आरती सँमारे बैठी हो। है न ठीक, हिः हिः हि।" वह हँसने लगी।

असित मुसकराया—"अपनी जानकारी को अपने ही पास रखो। पूछता हूं पागल का स्वाँग रचे क्यों फिरती हो ?"

वह हँसने लगी।

"अब मैं जाता हूँ, अच्छी लड़की, आधी रात में धूम नहीं मचाती, जाओ, आराम से सो रहो।"

"डाक्टर बाबू।"

"कहो ?"

"कहाँ है दीदी ?"

"वह नहीं आई, उसने कहला भेजा है कि कुछ दिन वह सुनील के पास रहेगी, तुम्हें उसने वहीं बुला भेजा है।"

असित ने देखा उस बात को सुनकर तूलिका एक दम पीली पड़ गई, चुपके से पलंग पर लेट रही।

"यह जँगली हवा हठात क्यों सुस्त पड़ गई ?" पूछा असित ने।

"तो रात को मथती फिरूँ ?"

"मथा तो करती ही हो।"

"दीदी की तरह ज्वर लेकर चल-फिर कहाँ सकती हूँ।"

"ज्वर है ? देखूँ ?" नब्ज़ देखकर असित शंकित हुआ— "इतना बुख़ार, कब से चढ़ा है ?"

"कई दिन से।"

"और दर्द भी कहीं पर है ?"

"हाँ।"

"कहाँ ?"

" यहाँ।" उसने हाथ से हृदय को दिखला दिया।

टेथीसकोप से हृदय-परीक्षा कर असीत का मुख वर्णहीन हो उठा।

"क्या है ?"

"कुछ नहीं।

"है—मैं समझ गई हूँ कुछ है। थक गई हूँ उन्हें पुकारते-पुकारते थक गई हूँ। नहीं—वह अब आवेंगे नहीं। अपने प्रेत को उन्होंने भेज दिया है। वह तो अब आवेंगे नहीं। उनके लिए उस अधूरे गान को छोड़ जाऊँगी।"

"तूलिका।"

"मुझे बचालो।"—बालिका सी वह रो उठी—"बचालो

मुझे, उन्हें देखे बिना मैं कैसे जाऊँगी। दीदी–मेरी दीदी।"

"कल वह आजावेंगी।"

इनजेकशन देने के लिए असित ने तूलिका का हाथ पकड़ा, झटका देकर उसने हाथ खींच लिया। हाँफती हुई कहने लगी– "मेरा जीना तुम्हें अखर गया। मन्तर-तन्तर यहाँ कुछ न चलेगा।"

"क्यों मौत को पुकार रही हो।"

किन्तु ये बातें शायद ही तूलिका ने सुनी हों, असित ने देखा वह कुछ खोज रही है।

"क्या गुम गया, तूलिका ?"

खोजते खोजते–वह बालिका की तरह फूल फूल कर रो उठी—"खो गया–खोगया, इतने दिन से, इतने यत्न से सहेज कर जिसे रखा था, वह खो गया, किसी ने उसे चुरा लिया।"

"वह ऐसी कौनसी चीज़ है ? ज़रा मुझ से भी तो कहो, उसे मैं भी देखूँ।"

"खो गया मेरे गान का वह आधा हिस्सा, जिसे कि उनको सुनाने को सहेज कर रखा था मैंने। हाय–हाय अब मैं उन्हें क्या सुनाऊँगी।" कहती हुई वह असित को घूरने लगी।

"इनजेकशन लगवा लो, तूलिका, अच्छी हो जाओगी।"

"हत्यारा, पापी, चोर, तुम्हीं ने चुरा लिया है मेरे गान को। दूर हो, हटो–हटो यहाँ से।"

दयापूर्ण दृष्टि से उसे देखता हुआ असित बाहर निकल

आया—इस विराट व्यथा, निविड़ दुःख के सामने असित की योग-समाधि जैसे विचलित हो उठी।

—:०:—

(३०)

शेष प्रहर के स्मप्र निविड़ बिधुर बेला में असित बाहर आकर खड़ा हो गया। उस एकीभूत अन्धकार के अविच्छिन्न नीरवता में दृष्टि प्रसारित किये वह खड़ा रह गया। गंभीर चिन्ता ने उसके मन को आच्छन्न कर लिया—हाँ इसी काली रात की स्तब्धता से उसे मृत्युञ्जय के मन्त्र को, प्रणाली को खोज निकालना है। जिस वस्तु के पीछे वह दीर्घ दिनों से भटकता फिर रहा है—उसी साधना की सिद्धि उसी रात के शेष श्वास में तो भरी पड़ी है न। देर है मात्र उस सिद्धि को हाथ पर उठा लेने की। उसे स्पर्श करने की।

कोई रोगी यातना से चीत्कार कर उठा। उन्मादी कोई जँगली हवा सा हँस उठा। कमरे के भीतर तूलिका गुनगुनाने लगी—"सब झूठा है, सब झूठा।"

और असित अन्धकार के स्तर से कुछ खोजता-सा, कुछ पकड़ता सा फिरने लगा—दोनो हाथों को पसार कर।

बुलबुल तब भी प्रभाती में जीवन का उच्छ्वास भर न पाई थी। चाँद तक भी वृक्षलता में जाग्रति भर रहा था। शिशिर बूँद

में तब भी जीवन का हास था।

वैसी एक बेला में पहुँचा असित सोहिनी के द्वार पर उसने दृढ़ आघात किया। खुल गया द्वार। सो उस खुले द्वार के सामने असित हो रहा वाकहीन—यह नारी इस हिम-शीतल शीत में भीगे वस्त्रों को पहने हुए जैसे मौत को चुनौती दे रही हो। किस वस्तु से बना है उसका शरीर-मन, जो कि टूट कर भी नहीं टूटता है।

सोहिनी शीतल जल से तभी तभी स्नान कर निकली थी। भीगे केशों से जल-बिन्दु झर रहे थे। देखा एक ने दूसरे को।

तब सहज, सरल कंठ से बोली सोहिनी—"इस सर्दी में बाहर क्यों खड़े हो ? भीतर आओ। चाय अभी मैं तैयार करती हूँ।"

सहम कर असित कमरे में पहुँचा, कहा—"तुम्हें लेने को आया हूँ, सोहन।"

"मुझे ?"

"हाँ भाई, जल्दी करो। सुनील को भी ले चलो। तूलिका बहुत बीमार है।"

"ज्यादा बीमार है ?" शंकित मुख से सोहिनी ने पूछा।

"हाँ।"

"क्या बीमारी है।"

"न्यूमोनियाँ।"

"मुझे अबतक खबर क्यों नहीं दी ? चलो-चलो।"

गमनोद्यता सोहिनी का पथ रोककर असित ने कहा—"क्या कर रही हो सोहिनी। ऐसी सर्दी। उस पर ये भीगे कपड़े। जाओ, पहले कपड़े बदलो।"

"भूल गई थी बदलना।"—लज्जित हास्य से उसने कहा। फिर कपड़े बदलने को चलदी।

अवाक असित खड़ा सोचने लगा—एक ऐसी को—जो कि शीत, ग्रीष्म, सुख, दुख—आदि सभी पर जय पा चुकी है—वैसी एक पर करने बैठा था वह सन्देह। बनने चला था उसका गुरू।

"चलो देर क्यों कर रहे हो, डाक्टर बाबू।"

"सुनील को बुलालो।"

पहुँच गया सुनील, कहा—"मैं चलूँ ? परन्तु मुझे देखकर वह और भी दुःख पाती है।"

"किन्तु फिर भी वह तुम्हें कुछ पहचानती है।"

"मुझे शङ्का है सोहिनी।"

"क्यों ?"

"मुझे देखकर बीमारी की दशा में उसकी निराशा कहीं और न बढ़ जावे।"

"इतने दिनों तक तूलिका यहाँ थी। तुम कुछ कर न पाये।" असित ने कहा।

"मुझे देखकर उसका जी हाहाकार से भर उठता था।"

"नहीं भाई, तुमने पूर्ण चेष्टा नहीं की।"

व्यथित खेद की क्लिष्ट छाया ने सुनील के सुन्दर मुख को वर्णहीन कर दिया—"परन्तु—उस पच्चीस वर्ष के युवक को मैं कहाँ से लाऊँ—जो कि उसके मन में अंकित है। कैसे समझाऊँ उसे कि इस प्रौढ़ता में उस युवक को ढूँढ़ना वृथा है। यौवन की पीत ज्योति को बुढ़ापे में कहाँ से लावे? मानव की चोरी पकड़ ली जाती है। किन्तु प्रकृति की चोरी तो एक भयानक वस्तु है न असित।"

गम्भीर दुख ने तीनों की प्रफुल्लता को ग्रास कर लिया।

कहने लगा गम्भीर उदासी से सुनील—"प्रकृति के मातृत्व में कौनसा दुख, कौनसी गम्भीर वेदना छिपी रहती है, असित, वही है एक रहस्य। अपनी ही सृष्टि की स्फूर्ति को वह एक दिन चूस लेती है। उसके दिये हुए रसीले चुम्बन में मृत्यु का सन्देश छिपा रहता है। उसके मातृत्व में भरी है ईर्षा।"

तीनों मौनता में चल पड़े।

तूलिका तब भी सो रही थी। धीरे पहुँच गई सोहिनी, बैठ गई उसके सिरहाने। यद्यपि सोहिनी धीरे पहुँची थी, तथापि शब्द से तूलिका की नींद खुल गई। उसे देखकर मृत्यु में से एक बार परिपूर्णता से जाग उठी। वह उठकर बैठ गई। सोहिनी के गले में बाँह डालकर दुलार से बोली—"आ गई, मेरी दीदी। पहुँच गई। तो डाक्टर ने सच कहा था। तुम्हें उसने विष नहीं दिया।"

"पगली! डाक्टर बाबू तो देवता है। वह कहीं आदमी को

मारा करते हैं ?" उसने वे बातें सुनी न सुनी, बोली—"ख़राब हैं— बहुत ख़राब।

"उन्हींने तो मेरा सर्वस्व चुरा लिया है।"

"क्या ?"

"तुम नहीं जानती दीदी ?"

"क्या कह रही हो ?"

"मेरी चोरी हो गई है—सर्वस्य चोरी।"

"तुम्हारी ?"

"हाँ।"

"किस चीज़ की ?"

"वही जान की।"

"जान चोरी हो गई ?"

"हाँ दीदी ! अन्त की उन लाइनों को चुरा लिया। छिपा लिया। इसी राक्षस डाक्टर ने।"

"छिः, डाक्टर बाबू को भी कहीं ऐसे शब्द कहे जाते हैं ?"

"है है, वह चोर है। डाकू है। लुटेरा है।"

पहुँच गये असित और सुनील तुलिका को देखने के लिए। असित को देखकर तूलिका चिल्लाने लगी—"दीदी, दीदी, इन्हीं ने तो चुरा लिया वह अधूरा गान। कहाँ गया मेरा वह गान का अन्तिम पद ? लुट गई मैं, लूट लिया इस दानवने मुझे, मेरे गान को।" तूलिका असित को घूरने लगी—"दूर हो, हट जाओ पापी यहाँ से।" कहते कहते जैसे उसके शरीर में असुर का बल

समा गया, उठकर बैठ गई और किसी के कुछ समझ सकने से पहले उसने असित के हाथ को पकड़ कर दाँतों से काटा कि रक्त की धारा वह निकली।

सोहिनी ने झटके देकर असित का हाथ उसके मुँह से छुड़ाया। उसे जबरन सुलाकर कहा—"छिः छिः, यह क्या किया ? किसे क्या कर रही हो ? देखो तो सही, आज तुमने इनका कितना खून निकाल दिया। देखूँ हाथ ?"

सोहिनी ने बड़े यत्न से असित के हाथ में दवा डाली। फिर अपनी साड़ी के आँचल को फाड़कर कटे हुए स्थान पर पट्टी बाँधने लगी।

व्यंग-परिहास से उन्मादिनी हँस उठी—"वाह-वाह, इतना दर्द उस राक्षस के लिए ? आखिर वह तुम्हारा है कौन ? हूँ-हूँ, मैं सब जानती हूँ। मुझे पागल बना रखा है। पागल-पागल। क्यों तुम यहाँ पड़ी रहती हो ? कौन है यह तुम्हारा ?"

उन्मादिनी के उन्माद भरे प्रश्न ने कमरे की वायु में जैसे एक लज्जा का स्वर भर दिया। सोहिनी ने मस्तक नत कर लिया।

"कहो न अब जवाब क्यों नहीं देतीं हो, दीदी ?"

पलभर के लिए गृह निस्तब्ध रहा।

तूलिका ने असित से पूछा—"तुम छल-वेशी दानव, देवता बने फिरते हो। मेरी बातों का जवाब है भी तुम्हारे पास ?"

"क्या पूछ रही हो, तूलिका ?"

"यह सोहिनी तुम्हारी कौन है ?"

असित दूसरी ओर मुँह किए कुछ सोचने लगा।

"कहो न, अब चुप क्यों हो गये ?"

असित ने एक बार सुनील के प्रश्न-पूर्ण नेत्रों के प्रति देखा, दूसरी बार लाज-रंजित सोहिनी के आरक्त मुख के प्रति। तब मुसकराया, सहज स्वर से बोला "यही पूछ रही हो न कि कौन है सोहिनी मेरी ?"

"हाँ हाँ।"

"और तुम सुनील ? हाँ तुम्हारी आँखे कह रही हैं कि तुम्हारे मन में भी यही प्रश्न है। है-ज़रूर है।"

"बड़े बातूनी हो, डाक्टर।"

"कौन है यह मेरी ? उस एक दिन के सिन्दूर-दान की रानी इस घर की गृह-स्वामिनी। और आज की ? एक अभिन्नहृदया मित्र। समझी न, तूलिका ?"

गंभीर विस्मय, श्रद्धा से सुनील ने सोहिनी को देखा। फिर चूर्ण स्वर से, स्नेह, श्रद्धा से पुकार उठा—"भाभी।"

खुशी हो उठी तूलिका।

—:०:—

कमरे में बैठा असित कीट आदि को लिए-नित्य-कम में लगा हुआ था। उन्मादालय था नीरव, निस्तब्ध, ऐसे ही समय अव्यवस्थित वेशविन्यास से पहुँच गई सोहिनी, वाष्परुद्ध स्वर से पुकार उठी—"गुरू देव।"

अपने आप में मस्त था असित उत्तर देता कौन ?

धीरे पूछा सुनील ने "क्या है भाभी ?"

"चल ही बसी शायद अभागिनी।"

विद्युत स्पर्श सा सुनील स्थिर, धीर, निश्चल देखता रह गया उस वार्तावाहिनी को यद्यपि एक दिन उस कठोर वार्ता को सुनने के लिए वह प्रस्तुत हो रहा था, किन्तु परम आश्चर्य तो यह है उस वार्ता को सुनकर वह हो रहा—विमूढ़ मूर्छित सा।

"डाक्टर बाबू।"—असित को सोहिनी ने हिलाया।

असित ने उसे देखा। कह उठा—"तुम से मेरी कब की दुश्मनी है, मित्र ? जब भी सिद्धि मेरे हाथ के पास पहुँच जाती है, ठीक उसी घड़ी तुम पहुँच जाती हो एक उल्का की तरह।"

झुँझलाई सोहिनी—"रखे रहो तुम कल्पित सिद्धि को,

मृत्यु जय करने बैठे हैं, और इधर जीती-जागती तूलिका चल बसी, रोक सके इस मौत को ?"

"चल बसी ?"

"शायद वह मर गई।"

"और मेरे रहते हुए ?" उसी एक दिन की भाँति बोला असित-दम्भ के साथ उस जीवन्त दम्भ के सामने सुनील और सोहिनी स्तब्ध हो रहे।

घण्टी बज उठी। कई प्रधान छात्र पहुँच गये।

"इस यन्त्र को उठाओ और इस रसायन को, जल्दी करो।"

तूलिका के कमरे में पहुँच कर असित ने एक बार अवहेलना से उस निश्चल प्राय शरीर को देखा फिर अपने दो प्रधान छात्रों के साथ जुट पड़ा रात भर के लिए मौत के साथ युद्ध करने के लिए।

"अद्‌भुत हैं ये यन्त्र, ये रसायन।"—धीरे बोला सोहिनी से सुनील।

भोर के निर्मल-शीतल वायु में उस दुर्दान्त उन्मादिनी ने आँखें खोल दीं। असित सन्तोष से हँसा—"तुम दोनों जाकर आराम करो। सोहिनी, मुझे ज़रा आराम की ज़रूरत है। अब यह स्वस्थ है।"

धीमी धीमी वर्षा हो रही थी। उद्यान के एक अंश में बैठे थे वे तीनों सुनील, सोहिनी और तूलिका। हाँ, तूलिका स्वस्थ थी—पूर्ण स्वस्थ्य।

"तूलि, तुमने देखा था वह खेल ?" तुलिका के गंभीर मुख के प्रति देखती हुई सोहिनी ने पूछा।

"कौन सा ?"

"वही चित्रलेखा।"

"नहीं।"

"लेजाओ न भैया इसे आज।"

"खेल कैसा होता है ?" पूछा तूलिका ने।

"आज जाकर सिनेमा देख आओ, उसे ही खेल कह रही थी।"

"तुम चलोगी ?"

"नहीं।"

"फिर मैं नहीं जाती।"

किसी कार्यवश तब सुनील उठ गया था।

"क्यों भला ?"

"मुझे न जाने कैसा डर लगता रहता है।"

"डर ? किसका ?"

"उसी सपने का।"

"सपना ? सपना कैसा ?

"भयानक सपना। तुम देखती हो दीदी सपना ?

ज़रा विचार कर सोहिनी ने कहा—"सपना तो सभी देखा करते हैं।"

"तुम देखती हो ?"

"हाँ हाँ।"

"कैसा ?"

सोहिनी ज़रा कठिनाई में पड़ी तब कहा—"यों जाने क्या-क्या, समुद्र, पहाड़, बच्चे, मौत, चिता, पक्षी ।"

वह चुप हो गई ।

"और तुम कैसा देखा करती हो ?"

तुलिका सिहर उठी—"नहीं-नहीं ।"

"कहो न बहन, दीदी से क्या छिपाना ?"

"जैसे कि एक बच्चा था, परम सुंदर लड़का और—"

बात उसे पूरी करने न देकर सोहिनी जबरन ही हँस उठी—"तुम्हारा ?"

तूलिका लजाकर ज़रासी हो रही—"यों ही तो देखती हूँ ।"

"स्वप्न तो झूठा हुआ ही करता है ।"

"और देखती हूँ, जैसे कि एक गान था—वह गुम गया ।"

इस बार हँसने जाकर भी सोहिनी हस न सकी । अनिच्छा से भी आँखों में पानी भर आया ।

"दीदी ।"

"क्या ?"

"मैं नहीं जाऊँगी ।"

"कहाँ ?"

"उनके साथ उनके घर ।"

"दुर पगली ! वह तेरा पति है । पति के घर न जाओगी तो कहाँ जाओगी ?"

"तुम साथ चलो।"

"मैं, फिर यहाँ का काम कौन करेगा? उन्हें कौन देखेगा?"

ज़रा चुप रहकर तुलिका डरती सी बोली—"मुझे उनसे डर लगता है?"

"क्यों?"

"न जाने क्यों, लगता है—वह बिलकुल बदल गये हैं, स्वप्न में जिन्हें देखती हूँ उनमें और इनमें बहुत अन्तर हो जाता है।"

"स्वप्न तो स्वप्न ही हुआ करता है न।"

"ऐसा मुझे क्यों हो गया, दीदी? उस दिन जब सो कर उठी तभी से ऐसा हो रहा है।"

"किस दिन?"

"उस दिन, जिस दिन तुम। डाक्टर बाबू, वह और ढ़ेर से लोग मेरे कमरे में थे। जाने कैसे कैसे यन्त्र रखे हुए थे। बस उसी दिन से।"

"ज्यादा बीमारी से उठने के बाद कभी कभी ऐसा हुआ करता है।"

"क्या मैं बीमार थी?"

"मर ही तो शायद गई थी बहन?"

"फिर जिलाया किसने?"

"डाक्टर बाबू ने।"

"सच?"

"हाँ तूलि।"

"तो वह आदमी को मारते नहीं जिलाते हैं ?"

"मारते हैं ? ऐसा तुमसे किसने कहा ?"

"स्वप्न देखा था न।"

पहुँच गया तब सुनील सिनेमा के दो टिकट लेकर।

"दीदी, चलो।"—तूलिका का ज़िद करने लगी। आख़िर वस्त्रादि परिवर्तन कर सोहिनी को भी जाना पड़ा।

—:o:—

"डाक्टर बाबू ।"—सोहिनी ने पुकारा ।

"ठहरो–ठहरो ।"

सोहिनी ने वहाँ से टलने का नाम तक न लिया । वरन उसी अव्यवस्थित यन्त्र-पंक्ति के बीच में जमकर बैठ गई—'सुन रहे हो ?"

"ठहरो–ठहरो ।"

"कब तक ठहराओगे ?"

"दया करो, सोहिनी । रात भर एकान्त में रहने दो ।"

"नहीं ।"

"सोहिनी ।"

"नहीं ।"—हिमालय सी अटल वह बोली—"नहीं, सबेरे से न स्नान न भोजन । चलो, अब उठो ।" सोहिनी ने उसका हाथ पकड़ा । उस स्नेह के अत्याचार के निकट असित हार गया। "तो कहाँ जाना पड़ेगा, महारानी ।"

दोनो हँस पड़े ।

हसी रोक कर सोहिनी बोली—"पहले बाथ रूम में । वहाँ

गरम पानी तैयार है। फिर खाना खाना।"

"और कोई हुक्म।"

अपने को यथासाध्य गंभीर बनाकर बोली सोहिनी—"उपस्थित और कुछ नहीं।"

"मुझे आँखे गड़ाकर क्यों देख रही हो ? क्या मुझ में देखने की कोई वस्तु पैदा हो गई है ?"

"ज़रा आइने के सामने खड़े हो कर तो देखो।"

"क्या मैं हठात बहुत सुन्दर हो गया हूँ ?" हलकी हँसी से उसने पूछा।

"हाँ, अपने उन पागलों की तरह।"

"तो तुम अब मुझे पसन्द नहीं करोगी ?"

"जाओ।"—कहकर सोहिनी ने मुँह फेर लिया।

हँसी-हँसी में उस फिरे हुए मुख को हाथों से अपनी ओर घुमाने जाकर असित का शरीर रोमाञ्चित होने लगा।

"सोहन-सोहिनी।" दर्दीले प्यार से वह पुकारने लगा।

सोहिनी सिहर उठी—इतने दिनों के बाद यह क्या ? विचार उठा पल भर में उसके मन में ! अन्त में क्या अपनी संक्रामक व्याधि को वह पति को देगी ? क्या उनकी गवेषणा को बर्वाद करेगी ? दूरत्व के व्यवधान से ही इस संक्रामक व्याधि से पति को बचा कर रख सकी है। नारी के, पत्नी के दूरत्व के व्यवधान से ही आज वह अपनी गवेषणा को सिद्धि को पूरा कर रहे हैं। और कदाचित एक दिन विश्व का महत्तर

उपकार कर ही वह जावेंगे। किन्तु-किन्तु आज यह क्या? साधक के, योगी के मन में यह प्रवृत्ति कैसी?

"चलो देर हो रही है।"

"नहीं।"असित कदाचित अपने अनजान ही में सोहिनी की गोद में सिर रखकर लेट गया—आँखें बन्द कर।

और सोहिनी? नहीं, वह उस सिर को हटा न सकी, उठा न सकी। सार्थक था उसका नारीत्व आज, पत्नीत्व। वह भूल गई कि वह क्षय रोगी है। भूल गईं कि पति उसका वैज्ञानिक-एक योगी है। भूल गई वह विश्व संसार को!

असित? हाँ भूल गया वह वर्तमान, अतीत और भविष्य को, चाहे पल भर के लिए ही क्यों न हो, किन्तु, गया भूल बात थी यह सही।

जूतों के शब्द से सोहिनी ने मुँह उठाया—सुनील खड़ा मुसकरा रहा था। असित उठकर बैठ गया। तब वह पूर्णतः सम्हल चुका था।

"अरे भाई तूलिका को पाकर अब पागलों का साथ छोड़ ही दिया!" कह रहा था असित।

"कल से आऊँगा उन्हें गाना सुनाने।"

"बैठो न भैया। अब कैसी रहती है तूलि?"

"अच्छी है, परन्तु बहुत गम्भीर।"

"उन्माद के लक्षण तो अब नहीं है?"

"यों तो नहीं है। किन्तु अकेले में कभी कभी उसे मैंने कुछ ढूँढ़ते हुए देखा है।"

"पूछा नहीं ?"

"जवाब नहीं देती।"

"तुम जाओ नहाने।"—असित से बोली सोहिनी—और उसके चले जाने के बाद पूछा—"तुमसे बोलती है न ?"

"बहुत कम, कभी गुनगुना उठती है—'खो गया-खो गया; पूछता हूँ कि क्या खो गया ? तो जवाब देती है—एक गान था वह खो गया। कहता हूँ—कैसा गान ? तो कहती है—कुछ नहीं—वह तो स्वप्न देख रही थी।"

"बेचारा सुनील भैया !"—हटात सोहिनी के मुँह से निकल गया।

"अब बेचारा या अभागा कहाँ हूँ बहन ?"

सोहिनी के जिज्ञासु नेत्रों के प्रति देखकर सुनील ने कहा—"जीवन की अन्तिम बेला में क्या यही कम लाभ है, सोहिनी ?"

करुणा से उसे देखती ही रह गई, सोहिनी।

"बहन तुम्हारा वह फ़ोटो—जिसमें कि गिलहरियों को लिए हुए खड़ी हो, उस दिन जिसे ले गया था, उसे आज इन-लार्ज करवाकर लाया हूँ। कहो कहाँ पर टाँग दूँ ?"

"तुम भी अच्छे पागल हो, भाई।"

"इस में पागलपन की क्या बात हुई ? बहन का फ़ोटो

भाई ने उतारा। एक अपने घर रखा। दूसरा तुम्हारे लिए लाया हूँ बस।"

स्नान कर असित पहुँच गया। बोला—"चलो—भोजन के टेबिल पर।"

"सोहिनी का फ़ोटो इनलार्ज करवा लाया हूँ। देखा है तुमने ?

"नहीं। कहाँ पर है ?"

सुनील ने फ़ोटो लाकर दिखलाया—खड़ी थी सोहिनी, दोनों कन्धों पर दो गिलहरियाँ लिये। फ़ोटो देखकर असित आनन्द से हँस उठा—"वाह वाह, ठीक पहले दिनों की तरह खड़ी है सोहिनी, गिलहरियों को लिए, कमी है एक कपास के पेड़ की।"

"कपास वृक्ष कैसा ?"

"वह बात इन्हीं से पूछ लेना, मैं भोजन करने जा रहा हूँ।"

असित चला गया।

"कपास की कहानी कैसी है बहन ?"

लजित हँसी से सोहिनी ने संक्षेप में कहा, फिर दोनों हँसने लगे।

सुनील दिवा द्विपहर में पहुँचा असित के घर तूलिका के साथ। बैठी थी अकेली सोहिनी उदास।

"आज यह अनहोनी कैसी बहन, फूले कमल को मुरझाया क्यों देख रहा हूँ ?"

"सवेरे से वह कमरे से निकले नहीं, जब जब खिड़की से झाँक कर देखा, तभीं उन्हें पाया–चुपचाप बैठे हुए, ऐसा कुछ दिनों से कर रहे हैं।"

"मैं भी यही कहने वाला था तुमसे। कुछ दिनों से मैं असित में परिवर्तन देख रहा हूँ। मुझे शंका है सोहिनी।"

"क्या ?"

"पागलों के साथ रहते वह भी कहीं पागल नहीं हो रहा है ? कहीं पागलों की मनोवृत्ति उस में भी तो नहीं समा रही है ?"

"नहीं" गंभीरता से बोली सोहिनी, "नहीं।"

"तुम कहती हो नहीं ? परन्तु अभी अभी खिड़की से जो कुछ मैं देखकर आया हूँ उसे पागल के सिवा और क्या कह सकता हूँ ?"

"नहीं कौन कहता है वह पागल हो गये हैं ?"

"तो इसे तुम क्या कहना चाहती हो ?"

"यह है एक तन्मयता—कलाकार—सृष्टिकार की तन्मयता, एक समाधि। यह तन्मयता, समाधि तब ही प्राप्त होती है, जब कि कलाकार की कला में सृष्टि भर उठती है, साधक की साधना की सिद्धि जब उसके हाथ लगती है।"

देर के बाद सुनील ने कहा—"शायद ऐसा हो। परन्तु अब प्रश्न यह उठता है सोहिनी कि असित ने जो वृहत व्यापार याने उन्मादालय आदि कर रखा है, उसे सँभालेगा कौन ? मेरे

विचार से यह सब कुछ दिनों के लिए बन्द ही क्यों न कर दिया जाय ?"

विस्मय-रुद्ध स्वर से सोहिनी बोली "तुम कहते क्या हो भैया ? जिस इच्छा को उन्होंने एकनिष्ठ होकर बहु में बाँटा है। उसे तोड़ दिया जाय ? किन्तु क्यों ? ऐसा भी हो सकता है कि एक मनुष्य की इच्छा एक दिन बहु में बँट कर वृहत्तर हो जाय। मुझे विश्वास है—एक दिन वह फिर सब सँभालेंगे। दो-दस दिन में बिगड़ता क्या है। फिर मैं हूँ किस लिये ?"

असित अनमना सा तब न जाने क्या सोच रहा था। हटात पूछा—"और प्रेम ?"

उस प्रश्न के सामने सोहिनी चकित अवश्य हुई, किन्तु विव्रत नहीं, दिया वैसा ही संयत उत्तर—"प्रेम ? प्रेम जब सिद्धि पर पहुँचता है, तब शरीरिक मोह के परे हो जाता है। और तभी हो जाता है वह मौन, मूक।"

"चलो उसे बुलावो।"

सोहिनी पहुँची असित के रुद्ध द्वार पर, मृदु-मृदु कराघात करने लगी। अन्दर की चिटकिनी कदाचित ठीक से लगी न रही हो। खुल गई। तब सुनील और सोहिनी भीतर पहुँचे। असित ने शायद ही उन दोनों का आना जाना हो।

सोहिनी असित के निकट बैठ गई, परम आदर से पीठ पर हाथ फेरती हुई पुकारा—"गुरुदेव।"

उस पुकार से असित एक बार काँप कर सचेतन हुआ।

"असित, चलो भाई भूख लगी है।" सुनील ने कहा।

और तब शिशुकी भाँति सोहिनी का हाथ पकड़े असित मौन मूक चल पड़ा।

—:o:—

श्वेत वसना, श्वेत भूषण—पूर्णिमा रात्रि—जैसे दीप की श्वेत-पद्म सी। सो तारों के मेले में बैठी चिर यौवनारात्रि रूपसी। श्वेत रूप की शीतल छाया में संसार तब सुप्त था।

केवल वह सोहिनी असित के रुद्ध द्वार पर बैठी माथा पीट रही थी।

"खोलो द्वार गुरुदेव, एकबार दरवाज़ा खोलो। दो दिन हो गये इसी बन्द कमरे में तुम्हें। अरे तापसी, स्वामी मेरे, एकबार पलभर के लिए दरवाज़ा खोलो।"

न दिया उत्तर उसके गुरु ने। नहीं ही उत्तर देने की चेष्टा की। पहुँच गया तब सुनील—"नहीं खोला दरवाज़ा ?"

"नहीं।" आर्त स्वर से कह उठी सोहिनी।

"तो।"

"तोड़ दो दरवाज़े को।"—

द्वार तोड़ा गया। अन्दर पहुँच कर वह दोनों सिहर कर शव की नाईं स्पन्दनहीन हो गये। चहुँ ओर विक्षिप्त यन्त्रादि, कीटाणु। रसायन आदि, सामने रखा हुआ सोहिनी का वह

बृहत फ़ोटो। बीच में पड़ा हुआ था असित स्पन्दन हीन सा।

विस्मय के आघात का प्रथम वेग सँभाल कर सुनील उसके निकट बैठ गया। वे दोनों देखकर विस्मित हुए उस फ़ोटो को। ड्राईंग रूम में टँगे हुए फ़ोटो को कब असित उतार कर लाया है, सो कोई भी नहीं जान पाया।

धीरे धीरे सोहिनी के मुख पर एक दृढ़ता व्याप गई। वह असित के निकट बैठ गई—उसके हृदय पर हाथ रख कर।

"भाई मेरा, मित्र मेरा, चल बसा आज चल बसा। अपनी सारी ताकत को पागलों में लुटा कर आज चल बसा।" सुनील रो उठो।

"नहीं।"

विस्मय से सुनील ने सोहिनी को देखा—"नहीं? क्या कह कह रही हो, बहन?

"वह मरे नहीं। मर सकते नहीं। जीवित हैं।"

"बहन—"

"देखो हृदय की गति को।"

असित के हृदय पर हाथ रखकर सुनील चिल्ला उठा—"है है।" फिर दूसरे ही पल निराशा से बोला—"किन्तु कब तक? नब्ज़ बिलकुल नहीं है। यह क्षीण गति हृदय की कबतक।"

डाक्टरों से घर भर उठा। अनेक उपाय किए गये। परन्तु असित वैसा ही रह गया।

धीरे धीरे सब चले गये। रह गई सोहिनी। और रह गया सुनील—"उठो बहन। वृथा आशा।"

"मैं कहती हूँ एक दिन यह उठेंगे। उठना इन्हें पड़ेगा ही।"

"यह उठेगा ?"

"तुम्हारे विश्वास को मैं तोड़ना नहीं चाहता। परन्तु—" सुनील चुप हो गया।

"यह उठेंगे।" बोली दृढ़ता से पुनः सोहिनी।

"मृत भी कहीं उठा है ?"

"मरे नहीं हैं ?"

"फिर यह क्या है ?"

"कदाचित यह मूर्च्छित हैं। इनकी इच्छा शक्ति—हाँ हो सकता है—रोगी को, उन्मादियों के आरोग्य करने में इन्होंने अपनी इच्छा-शक्ति का अत्यधिक प्रयोग किया है। इधर यह फ़ोटो।" —ज़रा रुक कर कहने लगी—सोहिनी—"इस अभागिनी को। हाँ, वे बहुत चाहते थे न। शायद मेरे प्रति अपने प्रवाहित प्रेम पर वह जय पाना चाहते हों, उधर सिद्धि की धुन। उनकी इच्छा शक्ति अपर्याप्त निकल चुकी, बँट चुकी। तब कदाचित उस शक्ति-हीनता की यह एक क्रान्ति हो। देखो, देखो। अब इस नब्ज़ की गति को।"

नब्ज़ देखकर एक क्षीण आशा सुनील के मुँह पर व्यापी—"परन्तु बहन। कबतक तुम यों बैठी रहोगी ? फिर यहाँ बैठकर करोगी भी क्या ? शहर के बड़े डाक्टरों को लाता हूँ।" "मैं

उठ नहीं सकती हूँ। गुरुदेव कहा करते थे—मेरी आत्म-शक्ति प्रलय उपस्थित कर सकती है। क्या आज मैं अपनी इच्छा-शक्ति से अपने पति के रुद्ध-प्राय हृदय को गति-पूर्ण नहीं कर सकती हूँ ?"

अपने दोनों हाथों को असित के हृदय पर रख कर सोहिनी उसके मुँह पर दृष्टि गड़ाए शान्त होकर बैठ गई।

रोमाञ्चित सुनील ने आँखें फाड़कर उस दृश्य को देखा। फिर—डाक्टरों के लिए चल पड़ा। तदाचित उसे तब विश्वास हो चला था—सोहिनी की बातों पर।

और सोहिनी ? —वह वैसी ही बैठी रह गई। बैठी रही आवेगी। अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर पति के हृदय को गति-सम्पन्न करेगी।